केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

२१/२-२३-५-८३

ललित निबंध

प्रस्तुतकर्ता
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
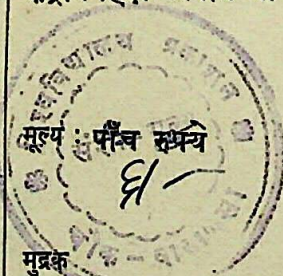
आमुख

भारत-सरकार द्वारा स्थापित केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा सन् १९६१ से स्नातकोत्तर तथा स्नातक स्तरीय हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण तथा भाषा और साहित्य के सम्मिलित पाठ्यक्रमों के संचालन के साथ-साथ हिंदी भाषा शिक्षण और भारतीय भाषाओं के साथ हिंदी के तुलनात्मक अनुसंधान के कार्य में संलग्न है। अब तक संस्थान के द्वारा निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं :—

१. भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन।
२. भारतीय साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।
३. भाषा-शिक्षण तथा भाषा-विज्ञान।
४. हिंदी की आधारभूत शब्दावली।
५. हिंदी परसर्ग।
६. हिंदी की क्रियाएँ।
७. तमिल और हिंदी की समान रूपी भिन्नार्थी शब्दावली।
८. हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ।
९. मध्यकालीन काव्य-संग्रह।
१०. आधुनिक काव्य-संग्रह।
११. आधुनिक कहानी-संग्रह।

मध्यकालीन काव्य-संग्रह, आधुनिक काव्य-संग्रह तथा आधुनिक कहानी-संग्रह संकलनात्मक हैं। इसी क्रम में ललित-निबंध भी प्रकाशित हो रहा है। हिंदी में साहित्यिक पाठ्य-पुस्तकों की कमी नहीं है; परंतु हिंदी

साहित्य को अखिल भारतीय परिदृश्य में रखकर संग्रह तैयार करने का अभी तक कोई विशेष यत्न नहीं हुआ है। संस्थान ने इसी अखिल भारतीय दृष्टि को सामने रखकर इन संकलनों को तैयार किया है। प्रसन्नता की बात है कि विविध विश्वविद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रमों में इन संकलनों को स्थान देकर हमारे प्रयास का लाभ उठाने का निश्चय किया। पाठ्य-पुस्तकों के इसी क्रम में प्रस्तुत 'ललित-निबंध' प्रकाशित हो रहा है। आशा है कि इस संकलन का भी हिंदी-संसार में उचित स्वागत होगा।

इस संग्रह में हिंदी के उत्तम निबंधों की रचनाएँ संगृहीत हैं। प्राचीन तथा नवीन दोनों युगों के प्रतिनिधि लेखकों की सरस रचनाओं का चयन किया गया है। निबंध के विकास की रूपरेखाएँ बताने के लिए तथा संकलन में संगृहीत रचनाओं के लेखकों के साहित्य का संक्षिप्त रूप में परिचय देने के लिए एक 'भूमिका' भी जोड़ी गयी है।

हम उन निबंधकारों के आभारी हैं जिनके निबंधों का उपयोग प्रस्तुत संग्रह में किया गया है। यह संस्थान के अध्यापकों—डॉ० वि० कृष्ण स्वामी अय्यंगार, डॉ० कीर्तिलता दत्त, डॉ० शंभुनाथ पांडेय और डॉ० सरोजिनी शर्मा—के परिश्रम का फल है। मैं उन्हें औपचारिक रूप से साधुवाद देता हूँ। मेरा विश्वास है कि भारत के सभी भाषा-क्षेत्रों की उच्च शिक्षा-संस्थाएँ और विश्व विद्यालय इस संग्रह को स्वीकार करेंगे और अपने-अपने स्नातक-स्तरीय पाठ्यक्रम में इसका उपयोग करेंगे।

ब्रजेश्वर वर्मा
प्रोफेसर और निदेशक,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

१५ फरवरी, १९७४

क्रम

भूमिका

'निबंध' को परिभाषा में बाँधना कठिन है। परिभाषित करने में निबंध बंधनहीन प्रतीत होता है। हिन्दी में 'निबंध' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'एसे' के अर्थ में होता है। जानसन ने 'एसे' को 'मुक्त मन की मौज, अनियमित, अपक्व-सी रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति' माना है। इसका अर्थ यह हुआ कि निबंधकार विषय-प्रतिपादन में किसी कार्य-कारण-शृंखला या अन्य नियम का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। वह बीच-बीच में विषयांतर भी कर सकता है। 'एसे' की उपर्युक्त परिभाषा सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के पाश्चात्य निबंधकारों की रचनाओं को ध्यान में रख कर की गयी थी। हिन्दी के निबंधों का यद्यपि अपना व्यक्तित्व है, तथापि इस विषय के पश्चिम से आने के कारण 'एसे' की परिभाषा को हम लगभग इसी रूप में हिन्दी 'निबंध' पर भी लागू कर सकते हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि मध्यम आकार की ऐसी रचना को जो एक सीमित विषय पर अधिकतर गद्य में लिखी जाती है, निबंध कहते हैं। 'निबंध' और 'प्रबंध' में संबंध होते हुए भी अंतर है। भारतीय भाषाओं में 'प्रबंध' का प्रयोग अंग्रेजी 'ऐसे' तथा हिन्दी 'निबंध' के समानार्थक रूप में होता है। प्रबंध में प्रतिपादन अधिक व्यवस्थित और पूर्ण होता है तथा विशेषज्ञ पाठकों को ध्यान में रख कर किया जाता है। निबंध के प्रतिपादन में प्रबंधोचित मात्रा में शास्त्रीय कठोरता नहीं होती तथा वह सामान्य पाठकों को ध्यान में रखकर किया जाता है। प्रबंध को निबंध का एक चरम रूप माना जा सकता है। निबंध का मूल तत्त्व है 'अपील'। वह पाठक से कुछ अपील करता है, मूल प्रतिपाद्य से सहमत होने के लिए

पाठक को तैयार करता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निबंधकार दृष्टांत, आख्यानक (किस्सा) तथा हास्य-विनोद की सामग्री का भी उपयोग करता है।

साहित्य की विभिन्न विधाओं के सोपान-क्रम में निबध का पहला स्थान है। इस सोपान-क्रम को सामान्यतः इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है।

(आर्. शेल्स् तथा सी. एच्. वर्गॉस् : एलिमेण्ट्स ऑव् द एसे, १९६९)

इस क्रम में पहले स्थान पर होने से निबंध अन्य विधाओं की तुलना में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। एक ओर तो वह साहित्येतर (उपयोगी साहित्य की) रचनाओं से जुड़ा हुआ है; तो दूसरी ओर वह साहित्यिक (ललित साहित्य की) रचनाओं की परिधि में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार निबंध साहित्य तथा साहित्येतर के संक्रमण बिंदु पर स्थित है। निबंध की उक्त प्रकृति को औपचारिकता-अनौपचारिकता के अंतर की सहायता से समझना विशेष सुविधाजनक प्रतीत होता है। 'औपचारिकता' के अंतर्गत वे सब रचनाएँ आ जाती हैं जिनमें वस्तुनिष्ठता तथा बौद्धिकता की प्रधानता होती है; जैसे—जीवनीपरक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, विवेचनात्मक, समीक्षात्मक रचनाएँ। इन्हीं का रूप 'प्रबंध' में दिखलायी देता है। 'अनौपचारिकता' के अंतर्गत आनेवाली रचनाओं में व्यक्तिनिष्ठता तथा सृजनात्मक अनुभूति की विशेषता है; जैसे—संस्मरण, रेखाचित्र, ललित रचना आदि। रचना में अनौपचारिकता का चरम रूप दिखायी पड़ता है। ललित रचना में अनौपचारिकता इस सीमा तक पहुँच जाती है कि प्रगीत का आभास होने लगता है। पत्रकारिता की रचनाओं—संपादकीय,

लेख आदि—में औपचारिकता तथा अनौपचारिकता मिले-जुले रूप में रहती हैं।

निम्नलिखित मानचित्र की सहायता से निबंध का उपर्युक्त स्वरूप सरलता से समझा जा सकता है :—

(जोसेफ टी. शिप्ले (स.) : डिक्शनरी आव् वर्ल्ड् लिटरेचर, १९६२)
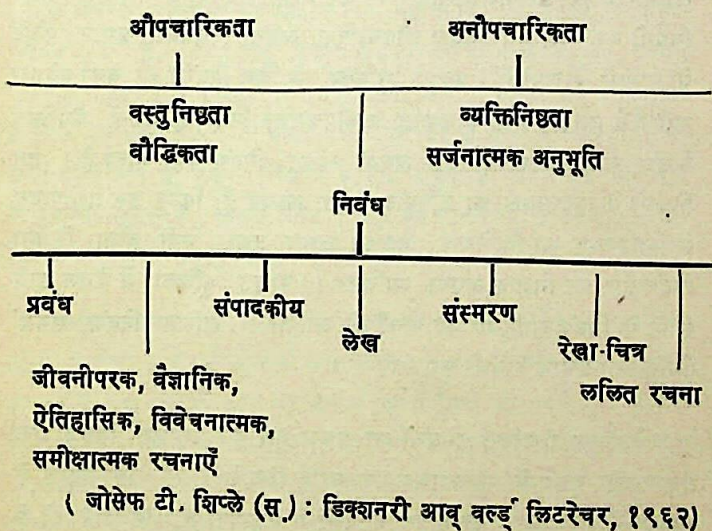
इस मानचित्र से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निबंध जीवनीपरक, वैज्ञानिक आदि रचनाओं, लेखों तथा ललित रचनाओं के रूप में ही अधिकतर लिखे जाते हैं। निबंध के स्वरूप का अधिकांश उपर्युक्त प्रकार की रचनाओं के द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु निबंध के आंतरिक तथा बाह्य मूल तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में रहते हैं।

साहित्य की यदि कोई विधा 'विषयवस्तु' अथवा 'पाठक' से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध है तो वह निबंध है। निबंध स्वानुभूति के प्रकाशन का सर्वोत्तम साधन है। जो निबंध विषयवस्तु का तथ्यात्मक विश्लेषण करते हैं

वे औपचारिक अतएव शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक निबंध की कोटि में आते हैं। विषयवस्तु-प्रधान निबंधों में निबंधकार तटस्थभाव से विषयवस्तु का विश्लेषण, वर्गीकरण, विवेचन करता है। इन निबंधों की शैली आगमन-निगमन (इंडक्टिव-डिडक्टिव) शैली होती है जिसे तार्किक शैली भी कहा जा सकता है। समाजशास्त्र, साहित्य-शास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि विषयों पर लिखे गये निबंध औपचारिक अथवा विषयवस्तु-प्रधान कोटि के निबंधों में आते हैं। प्रस्तुत 'भूमिका' में जिन निबंधों की चर्चा की जा रही है वे दूसरी कोटि के अर्थात् अनौपचारिक निबंध हैं, जिन्हें वैयक्तिक निबंध, व्यक्तित्वप्रधान निबंध अथवा ललित निबंध कहा जाता है। इन निबंधों में विषयवस्तु का प्रतिपादन होता अवश्य है; किन्तु इस प्रतिपादन में विषयवस्तु का विश्लेषण, विवेचन उतना प्रमुख नहीं होता जितना निबंधकार का निजत्व अथवा व्यक्तित्व। प्रस्तुत 'भूमिका' में केवल इसी कोटि के निबंध-साहित्य की चर्चा की जाएगी। 'ललित निबंध संग्रह' वैयक्तिकता-प्रधान निबंधों का संग्रह है।

वैयक्तिकता ललित निबंधों का प्रमुख गुण है। ललित निबंध एक प्रकार की गद्यमयी सृजनात्मक रचना है जिसमें किसी विषयवस्तु के माध्यम से निबंधकार का मन भावतरंगों में लहराता है, निजी उमंगों में विहार करता है और निबंध के समाप्त होने के साथ तरंगों का ज्वार भी समाप्त हो जाता है। ललित निबंधों में भावावेग अथवा प्रतिपाद्य विषय के प्रति संवेगात्मक प्रतिक्रिया प्रमुख और बौद्धिक विवेचन गौण रहता है। ललित निबंधों में पाठकों को उद्वेलित करने की क्षमता प्रमुख होती है, बौद्धिक जानकारी प्रदान करना गौण। ललित निबंध भावावेश में लिखे जाते हैं; अतः उनमें कार्य-कारण शृंखला में निबद्ध विचार-प्रतिपादन की उतनी गुंजाइश नहीं रहती जितनी भावावेगों के उफान में थी। उनमें वैयक्तिकता का प्राधान्य होता है; अतः किसी घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदि पर निबंधकार की वैयक्तिक प्रतिक्रिया का अंकन रहता है।

औपचारिक अर्थात् विषयवस्तु-प्रधान निबंधों में निबंधकार की चेतना के समक्ष विषयवस्तु होती है, जिसका वह सूक्ष्मतम विश्लेषण करना चाहता है; किन्तु उसके समक्ष 'पाठक' नहीं होता। वह यह नहीं सोचता कि उसका निबंध पाठकों को सरस लगेगा अथवा फीका। वह इस बात की भी चिन्ता नहीं करता कि उसके प्रतिपाद्य विषय की पाठकों के मन पर संवेगात्मक प्रतिक्रिया क्या होगी; इस वस्तुस्थिति के ठीक विपरीत ललित अथवा व्यक्तिगत निबंधों की स्थिति है। व्यक्तिगत निबंधकार के समक्ष 'पाठक' होता है, 'विषयवस्तु' केवल उसका मनोरंजन करने का साधन होती है। ललित निबंधकार की प्रतिबद्धता अपने 'पाठक' के प्रति होती है जिसे वह अपने निबंध के माध्यम से थोड़ी देर के लिए अपने रागवृत्त में समेटना चाहता है, अपनी मौज में बहाना चाहता है, अपने अहं की तरंग में डुबाना चाहता है, अपने अंतर के रस की पिचकारी से उसका दिलो-दिमाग तरोताजा करना चाहता है।

ललित निबंध का विषय-क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना ब्रह्माण्ड। छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी वस्तु ललित निबंध का प्रतिपाद्य विषय बन सकती है तथा एक ही वस्तु पर अनेक निबंध लिखे जा सकते हैं। आगरा के ताज पर न जाने कितना कुछ लिखा जा चुका है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ताज पर इतना लिखा जा चुका है कि अब कुछ और लिखना शेष नहीं रह गया। ललित निबंधों में व्यक्ति की व्यक्तिगत अनुभूतियों का अभिचित्रण होता है और चूँकि किसी वस्तु के प्रति दो व्यक्तियों की अनुभूतियाँ सर्वथा समान नहीं होतीं इसलिए एक ही विषय पर अनेक सृजनात्मक निबंध लिखे जा सकते हैं। ललित निबंध का प्रतिपाद्य विषय चाहे जो हो उसका प्रतिपादन निबंधकार के अहं के माध्यम से होता है, इसलिए निबंध का संपूर्ण लालित्य, रसात्मकता, चारुता, अनुरंजकता, आकर्षण उसकी शैली में है, विषयवस्तु में नहीं। जैसे गंगा की निर्मल धारा हिमखंडों के विगलित होने से निर्मित होती है उसी प्रकार ललित निबंध की रस-धारा निबंधकार के 'अहं' के द्रवीभूत होने

से निर्मित होती है। ब्रह्म के विराट रूप की कल्पना में शिव को विराट का 'अहं' कहा गया है। ब्रह्मा के कमंडल से भूतल पर अवतरित होने के पूर्व गंगा शिवालक में समा गयी थी और जो गंगा हमारे बीच में प्रवहमान है वह शिवालकनिःसृत गंगा है। यह रूपक ललित निबंध पर भी लागू होता है। निबंधकार का 'अहं' ही वह शिव तत्त्व (कल्याणकारी तत्त्व) है जो निबंधकार के चेतना-प्रवाह से निःसृत भाव-तरंगों को अपने आपमें समा लेता है। निबंधकार का 'अहं' उन भाव-तरंगों को संयोजित करके साहित्यिक रूप में अभिव्यक्त रहता है।

किसी विषयवस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति की जो संवेगात्मक प्रतिक्रिया उसकी चेतन सत्ता पर होती है वह भावना-तरंगों के रूप में उसके 'अहं' से बार-बार टकराती है। इस टकराहट से उत्पन्न उद्वेग का वह जब सर्जनात्मक स्तर पर अनुभावन करता है तब निबंध, कहानी, रेखाचित्र, प्रगीत आदि के माध्यम से वह उद्वेग वाङ्मय रूप ग्रहण करता है। साहित्यकार का 'अहं' विषयवस्तु के सब प्रकार के बंधनों का परित्याग करके केवल उस भावना-तरंग को वाङ्मय रूप प्रदान करता है। इसीलिए 'निबंध' को 'मन की शिथिल तरंग, एक अनगढ़ रचना' कहा गया है। 'निबंध' शब्द की सार्थकता (निःशेष है बंधन जिसके वह विधा) भी इसी कोटि के निबंध-साहित्य में चरितार्थ होती है।

स्रोतस्विनी के बालुकामय पुलिन पर लहरों का अंकन आपने अवश्य देखा होगा। तटस्थ होकर समग्र तट पर दृष्टि डालने पर इस चित्रकारी में रेखाओं का संयोजन परिलक्षित होता है; किंतु पुलिन में प्रवेश करके यदि एक रेखा का अन्वय दूसरी रेखा में खोजा जाय तो उसमें कोई अन्विति, कोई योजना, कोई शृङ्खला परिलक्षित नहीं होगी। उन लहरीले रेखाचित्रों का निर्माण लहरों के आरोह-अवरोह के द्वारा एक सहज रूप में होता है। बालुका की चित्रपटी पर लहरें अपना अंकन करके सरिता-प्रवाह में अंतर्लीन हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार ललित निबंध की शैली,

वाक्य-विन्यास, शब्दचयन, अनुच्छेद-विभाजन—का निर्माण निबंधकार के मन की तरंगें करती हैं। ललित निबंध में समग्र-रूप से एक शैली का आयोजन अवश्य परिलक्षित होता है; किन्तु उसके वाक्य-प्रतिवाक्य में वह पूर्वापर संबंध परिलक्षित नहीं होता और न तर्क की पूर्वापर श्रृंखला ही परिलक्षित होती हैं जो विषय-प्रधान निबंधों में दिखलायी पड़ती है। जैसे ही निबंधकार अपनी पूरी बात कह डालता है उसका संवेगात्मक ज्वार समाप्त हो जाता है—रागिनी का पूरा विस्तार करके मानो उसकी हृदय वीणा मौन हो जाती है – और निबंध समाप्त हो जाता है। इस प्रकार अनौपचारिकता, पाठक से आत्मीयता, खुलापन, निजीपन की अभिव्यक्ति, शैलीगत स्वच्छंदता तथा इन सब विशेषताओं के अनुकूल अधिकतर उत्तम पुरुष वर्णन-शैली का प्रयोग, ललित निबंध की प्रमुख विशेषताएँ हैं। ललित निबंध की शैली के विषय में बफून का कथन 'स्टाइल इज द मैन हिमसेल्फ' भली-भाँति लागू होता है।

वस्तुतः 'निजत्व' अथवा 'व्यक्तित्व' एक भावात्मक (एब्स्ट्रैक्ट) अथवा संकल्पनात्मक (कान्स्पेचुअल) शब्द है जिसका थोड़ा विवेचन कर लेना आवश्यक है। अंग्रेजी में व्यक्तित्व के लिए दो शब्द प्रचलित हैं— 'इण्डिवीजुएलिटी' तथा 'पर्सनेलिटी'। हिन्दी में दोनों के लिए व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग होता है। 'इण्डिवीजुएलिटी' व्यक्ति के वे व्यतिरेकी धर्म हैं जो उसे अपने समुदाय के अन्य सदस्यों से व्यतिरिक्त करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की 'इण्डिवीजुएलिटी' भेदक लक्षणों का समूह कहलाती है। किन्तु 'पर्सनेलिटी' सबके पास समान रूप से नहीं होती। इसका संबंध व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रभविष्णुता से होता है। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में प्रभविष्णुता की मात्रा दूसरे व्यक्ति से अधिक होती है। यह प्रभविष्णुता ही व्यक्तित्व का वह धर्म है जो व्यक्ति की सर्जनात्मक रचनाओं में अभिव्यक्त होता है। इसे ही हम कलाकार की निजता अथवा व्यक्तिगत शैली कहते हैं। यह कलाकार के व्यक्तित्व का सर्जनात्मक अथवा गत्यात्मक अंश है जो किसी माध्यम को स्वीकार करके विभिन्न कलाओं में मूर्तिमान

होता है। यह उसके व्यक्तित्व का सारतत्त्व (एसेंस) होता है। कलाकार के व्यक्तित्व की रमणीयता, चारुता, प्रभविष्णुता उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों के माध्यम से ज्ञापित होती है। अतः कला के क्षेत्र में जिस व्यक्तित्व की चर्चा की जाती है वह व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व का यही सृजनात्मक अंश होता है। आधुनिक समीक्षा में इसलिए 'व्यक्ति और उसका कलाकार' अथवा 'व्यक्ति और उसका कवि' इस प्रकार की शब्दावली के द्वारा कलाकार की कृति या संबंध उसके व्यक्तित्व से जोड़ा जाता है।

नाना प्रकार के रुचिकर, प्रीतिकर, सरस व्यंजनों में रस अथवा प्रीतिकारिता सामान्य धर्म है। किन्तु प्रत्येक व्यंजनों का स्वाद पृथक् होता है। स्वाद का निर्माण रासायनिक पदार्थों के सम्मिश्रण के द्वारा होता है। ठीक इसी प्रकार से लालित्य अथवा चारुता अथवा सरसता निबंध-साहित्य का सामान्य धर्म है। किन्तु प्रत्येक निबंध का आस्वाद्य गुण पृथक् होता है। जिस प्रकार व्यंजनों के स्वाद-भेद का आधार रासायनिक पदार्थों का विभिन्न मात्राओं में सम्मिश्रण होता है उसी प्रकार निबंधों के आस्वाद्य गुणों का भेद निबंधकार के व्यक्तित्व के विभिन्न तत्त्वों से होता है। किसी में व्यंग्य-विनोद की मात्रा अधिक तो किसी में बेफिक्री मस्ती का आलम है, किसी में चुटीलापन है तो किसी में बौद्धिक परिहास (विट) की मात्रा अधिक है। किसी में अपनाव अधिक है तो दूसरे में शालीनता अधिक है। ये सब गुण व्यक्तित्व से संबद्ध हैं जिनकी ललित निबंधों में सहज अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए प्रत्येक निबंधकार की निजी शैली होती है और प्रत्येक निबंध की निजी संवेदना होती है। निबंधकार की शैली का विश्लेषण करते समय हमें उपर्युक्त तत्वों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए तथा इन्हीं के प्रकाश में व्यास शैली, समास शैली, विवरणात्मक शैली, वर्णनात्मक शैली, व्याख्यात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली, विक्षेप शैली, तरंग शैली आदि का यथोचित प्रयोग करना चाहिए।

निबंध में निबंधकार की समग्र जीवनानुभूति, विचार-परंपरा, सांस्कृतिक रुचि-अरुचि, सामाजिक दृष्टि की सृजनात्मक अभिव्यक्ति होती है। ये ही तत्त्व उसके सर्जक 'अहं' का निर्माण करते हैं। निर्वैयक्तिकता ललित निबंधों में संभव नहीं, और न यही सम्भव है कि अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से निबंधकार का व्यक्तित्व अस्पृष्ट रहे। अतः निबंध के माध्यम से निबंधकार के सर्जक 'अहं' के साथ-साथ उसका युग भी बोलता है, एक सामाजिक चेतना भी अभिव्यक्त होती है। हम निबंध के माध्यम से तत्कालीन समाज का जीता-जागता चित्र भी प्राप्त करते हैं। उदाहरण के लिए भारतेन्दु और उनके युग के अन्य निबंधकारों की रचनाओं के माध्यम से निबंधकारों के सर्जक व्यक्तित्व के अतिरिक्त उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध की सामाजिक हलचलों का जीता-जागता चित्र भी हमें प्राप्त होता है। किंतु सर्जनात्मक साहित्य अपने समाज का दर्पण मात्र नहीं होता। उसमें हम केवल सामाजिक स्थिति का बिंब ही प्राप्त नहीं करते; साहित्यकार की सर्जनात्मक चेतना अपने युग की दुःखद परिस्थितियों को किस प्रकार प्रभावित करना चाहती है, निराशा की घोर निशा में वह किस आशा की किरण का संकेत करती है, दुःखद वर्तमान को किस प्रकार सुखद भविष्य में परिणत करना चाहती है, आदि तथ्यों का संकेत भी हमें साहित्य के माध्यम से प्राप्त हो सकता है। साहित्यकार समाज का विशेष संवेदनशील सदस्य होता है। वह समाज के जागरूक प्रहरी का भी कार्य कर सकता है। वह नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण करनेवाले दस्युओं, दंभियों के पाखंड का पर्दाफाश कर सकता है। अपने व्यंग्य-बाणों से समाज की कुत्सा पर प्रहार कर अपनी कृतियों द्वारा समाज को दिशाबोध दे सकता है। व्यक्तिगत निबंध चूँकि साहित्य-कार की भावनाओं को अभिव्यक्त करने का सबसे सबल, सहज और प्रत्यक्ष माध्यम है, इसलिए व्यक्तित्व के प्रकाशन का भी यह बहुत शक्ति-शाली माध्यम है। इतना होते हुए भी यह सत्य है कि ललित निबंध ही स्वानुभूति प्रकाशन की एक मात्र विधा नहीं है। गद्य की अन्य विधाओं

तथा निवंध के अन्य प्रकारों के माध्यम से भी साहित्यकार अपनी बात कहता है। अतः निवंध के स्वरूप को सम्यक् रीति से समझाने के लिए उनका तुलनात्मक अनुशीलन कर लेना समीचीन होगा।

ललित निबंध और गद्य काव्य

ललित निवंध और गद्य काव्य दोनों ही स्वानुभूति प्रकाशन की उन्मुक्त विधाएँ हैं। दोनों में ही विषय-प्रतिपादन का कोई बंधन लेखक के ऊपर नहीं होता। दोनों ही भावात्मक कोटि की साहित्यिक विधाएँ हैं। इन समानताओं के आधार पर कुछ समीक्षकों ने गद्य काव्य का स्वतंत्र अस्तित्व अस्वीकार न करके उसे निबंध की ही एक उपकोटि माना है। और यह सत्य भी है। परंतु दोनों में कुछ अंतर भी है। ललित निवंध का क्षेत्र गद्य काव्य से अधिक व्यापक है। गद्य काव्य आँसू और उच्छ्वास-प्रधान छन्दमुक्त गीति-काव्य है जिसमें भावावेशमयी शैली में स्वानुभूति का प्रकाशन होता है। अलंकृत भाषा और आंतरिक लयप्रधान शब्द-विधान गीति-काव्य की विशेषताएँ हैं।

ललित निवंध में निवंधकार की व्यक्तिगत अनुभूति की प्रधानता अवश्य होती है; किंतु उसमें मर्मपीड़ा की अभिव्यक्ति के साथ-साथ समाज की विद्रूपताओं पर प्रहार करने का आवेश भी होता है। गद्य काव्य की भाषा प्रायः कृत्रिम तथा अनुरंजित होती है वहाँ निवंध की भाषा प्रायः सहज, मुहावरेदार तथा चुटीली होती है। गद्य काव्य-लेखक प्रमुख रूप से अपने हृदय की वेदना में पाठकों को आत्म-विभोर करना चाहता है जब कि निवंध-लेखक मुख्यतया पाठकों को अपने सामाजिक परिवेश के प्रति सजग करना चाहता है। इस प्रकार दोनों विधाओं में मात्रा के साथ-साथ गुण का भी अन्तर है। ललित निवंध किसी भी वंधन को स्वीकार नहीं करता। वह ऐतिहासिक घटनाक्रम के चित्रण में भी कल्पना अथवा मन की तरंग से काम ले सकता है। विषयवद्धता निवंधकार के लिए अनिवार्य नहीं है तथा तटस्थता एक दोष है।

ललित निबंध तथा आत्म-कथा

जीवनी का नायक जब लेखक स्वयं होता है तब आत्म-कथा-साहित्य की सृष्टि होती है। ललित निबंध में भी निबंधकार की स्वानुभूति का प्रकाशन होता है। इस दृष्टि से दोनों विधाओं को एक ही कोटि में गिना जा सकता है। किंतु दोनों विधाओं में एक मौलिक अंतर है। निबंध में निबंधकार उत्तम पुरुष की वर्णन शैली में अपने वर्तमान बाह्य जीवन का चित्रण करता है। वह अपने ऊपर नाना प्रकार के व्यंग्य करता है। अपने माध्यम से सामाजिक विद्रूपताओं पर प्रहार करता है। अपने आपको परिहासात्मक परिस्थिति में डालकर पाठकों का मनोरंजन करता है। वह बिना किसी दुराव-छिपाव के ऐसी आत्मीयता के साथ अपने आपको उपस्थित करता है कि पाठक उसे अपना अन्तरंग मित्र समझने लगते हैं। ललित निबंधों में निबंधकार का 'अहं' साधारणीकृत होकर अभिव्यक्त होता है। इसलिए पाठकों का सहज रूप से उसकी अनुभूतियों के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यह सब वह सर्जनात्मक स्तर पर करता है। किंतु आत्मकथा में साधारणीकरण और तादात्म्य का सर्वथा अभाव रहता है। एक तो आत्मकथा-लेखक समाज के विशिष्ट वर्ग का सदस्य होता है जिसकी जीवनी के साथ युग की अनेक सामाजिक घटनाएँ जुड़ी रहती हैं। आत्मकथा में उन सबका उल्लेख होने के साथ आत्म-विज्ञापन का प्रच्छन्न भाव भी जुड़ा रहता है। आत्मकथा-लेखक सामाजिक घटना-क्रम में अपनी भूमिका का अवश्य उल्लेख करता है। आत्मकथा और ललित निबंध में दूसरा मौलिक अंतर यह है, आत्मकथा में सुदूर अतीत का चित्रण होता है। लेखक जीवन के भूले-बिसरे साथियों का, भूली-बिसरी घटनाओं का कलात्मक ढंग से चित्रण करता है। उसमें अनेक प्रकार की घटनाओं और सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों का, आत्मश्लाघा और आत्मदैन्य का भी चित्रण करता है। आत्मकथा की उत्तम पुरुष वर्णन-शैली का ललित निबंध की समकथा शैली से केवल बाह्य साम्य है। आत्मकथा में औपचारिकता रहती है, ललित निबंध अनौपचारिक रचना है।

ललित निबंध तथा संस्मरण-रेखाचित्र

ललित निवध और संस्मरण-रेखाचित्र में वहुत कम अंतर है। संस्मरणों तथा रेखाचित्रों को ललित निवंधों की कोटि में रखा जा सकता है। प्रस्तुत संग्रह में संगृहीत रामवृक्ष वेनीपुरी की 'रजिया', महादेवी वर्मा का 'रामा' तथा श्रीराम शर्मा का 'बाघ से भिडंत' संस्मरणात्मक तथा रेखाचित्रात्मक निवंध हैं। प्रथम दो निवंधों में संस्मरण के साथ रेखाचित्र की शैली अपनायी गयी है तथा तीसरे निबंध में शिकारी-जीवन का अनुभव प्रस्तुत करते हुए कहानी शैली को स्वीकार किया गया है। व्यक्तिगत अनुभूति की प्रधानता के कारण उन्हें निवंध की कोटि में स्थान दिया गया है। अंतर केवल इतना है कि ललित निवंध में संस्मरण-रेखाचित्र की अपेक्षा अनौपचारिकता तथा सर्जनात्मक अनुभूति की मात्रा अधिक रहती है। संस्मरण-रेखाचित्र में वस्तुनिष्ठता का अंश अधिक होता है। रेखाचित्र में तो अन्य पुरुष वर्णन शैली के प्रयोग की भी प्रधानता दिखाई देती है जो ललित निवंध से उसे दूर ले जाती है।

निवंध साहित्य का विकास

निवंध साहित्य आधुनिक युग की देन है। मुद्रण की सुविधा और पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन निवंध-साहित्य के निर्माण और विकास के मूल-तत्त्व हैं। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध से भारतीय जीवन में एक नयी जागृति आती है। आर्थिक शोषण और उपनिवेशी साम्राज्यवाद की कठोर चक्की में पिसने के परिणामस्वरूप देश में एक नयी सामाजिक चेतना का जन्म होता है। राष्ट्रीय मुक्ति का प्रयास, सन् १८५७ के विफल स्वतंत्रता-संग्राम के पश्चात्, देशी सामंतों के स्थान पर, समाज के प्रवुद्ध सदस्यों द्वारा किया जाने लगता है। समाज का नेतृत्व नयी सामाजिक शक्तियों के हाथ में आता है। साहित्यकार इन शक्तियों में से एक प्रमुख शक्ति थी। पत्रकारिता जन-चेतना को प्रवुद्ध करने का सशक्त माध्यम बन जाती है। पत्र-पत्रिकाओं में सामाजिक हलचलों पर टिप्पणियाँ प्रकाशित होने लगती हैं। इन्हीं टिप्पणियों

से निबंध साहित्य का विकास होने लगता है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन से हिन्दी के समूचे गद्य-साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ने लगता है। आधुनिक युग में गद्य की जितनी विधाएँ—कहानी, उपन्यास नाटक, समीक्षा, निबंध विकसित हुईं उन सब पर पाश्चात्य शैली का प्रभाव पड़ने लगा था। निबंध साहित्य के विकास में यह प्रभाव भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

ललित निबंध अन्य विधाओं की अपेक्षा वैसे भी आधुनिक युग के अधिक अनुकूल है। समाज के किसी विषय पर शास्त्रीय निबंध लिखने के लिए गहराई और व्यवस्था दोनों की आवश्यकता पड़ती है। किंतु ललित अथवा व्यक्तिवादी निबंध के साथ ऐसी कोई पाबंदी नहीं है। कलम उठाई और मन की उमंग को शब्द-बद्ध करना प्रारंभ कर दिया। बीच में लेखक विषयान्तर करके किसी अन्य विषय पर टिप्पणी करने लगा तब भी कोई हानि नहीं और जहाँ चाहा वह निबंध समाप्त कर दिया। इस प्रकार की रचनाएँ पत्रकारिता के लिए विशेष उपयोगी होती हैं। डॉ० जानसन के अनुसार 'अपरिपक्वता, अव्यवस्था, बुद्धि की ढीली तरंग, निबंध के लक्षण हैं और भारतेन्दु-युग के साहित्य में हमें इसी प्रकार के निबंध मिलते हैं। भारतेन्दु और उनके मण्डल के अन्य लेखकों ने समसामयिक विषयों पर अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं को पत्रिकाओं के माध्यम से पाठकों के पास पहुँचाना प्रारम्भ किया।

भारतेन्दु-युग के निबंधकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द गुप्त के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भावावेग, कल्पना, व्यंग्य-विनोद, विदग्धता और सुबोधता के साथ-साथ पाठकों के साथ गहरी आत्मीयता इस युग के निबंधों की विशेषताएँ हैं। इन निबंधों का वातावरण घरेलू वातावरण जैसा है जिसमें औपचारिकता की कोई गुंजाइश नहीं। इतना सब होते हुए भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु-युग निबंध साहित्य की शैशवावस्था का युग था। उसमें किशोरसुलभ चंचलता, सारल्य, भोलापन, निश्च्छलता, हास-परिहास, व्यंग्य-विनोद तो प्रचुर मात्रा में मिलेगा; किन्तु प्रौढ़ता—चिन्तन और

अभिव्यक्ति दोनों में—नहीं मिलेगी। भाषा में आंचलिकता तथा शैली की अपरिपक्वता भारतेन्दु-युग के निबंधकारों में प्रायः मिलेगी।

भारतेन्दु-युग के निबंधों की शैली में एक किशोरी का भोला माधुर्य तो है; किन्तु गृहिणी के गाम्भीर्य का अभाव है। वह आत्मीयता से भरी हुई, सहज ग्रामीण परिधान में पाठकों के सम्मुख कटाक्ष करती हुई उपस्थित होती है। गोपनीयता, दुराव-छिपाव उसकी सुकुमार प्रकृति के विरुद्ध हैं; किन्तु एक नागरिका की प्रांजलता, साज, शृंगार उससे कोसों दूर है।

द्विवेदी-युग भाषा के परिमार्जन और परिष्कार का युग था व्याकरणिक शुद्धता की ओर स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। द्विवेदीजी भाषा की शुद्धता के साथ-साथ साहित्य में वैविध्य लाने के पक्षपाती थे। चिन्तन में गाम्भीर्य द्विवेदी-युग की दूसरी विशेषता थी। अतः भारतेन्दु-युगीन हार्दिकता के स्थान पर द्विवेदी-युग के निबंधों में चिंतन और गांभीर्य की प्रधानता हुई और भारतेन्दु-युग के व्यक्तिवादी निबंधों की परम्परा एक प्रकार से समाप्त हो गयी। भावात्मक निबंध अवश्य लिखे जाते रहे; किन्तु भावों की तह में कोई गंभीर विचार अवश्य छिपा रहता था। द्विवेदी-युग के निबंधकारों में सरदार पूर्णसिंह, माधवप्रसाद मिश्र, पद्मसिंह शर्मा तथा बाबू श्यामसुन्दरदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

निबंध-साहित्य के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आगमन एक ऐतिहासिक घटना है। शुक्ल जी ने द्विवेदी-युग में ही लिखना प्रारंभ किया था; किन्तु व्यक्तित्व की प्रखरता के कारण निबंध साहित्य में शुक्ल-युग से एक नए युग का प्रारम्भ माना जाता है। शुक्ल जी ने विषयवस्तु-प्रधान निबंध लिखे हैं। उनके गुरु-गम्भीर व्यक्तित्व से दूसरे प्रकार के निबंधों की आशा भी नहीं करनी चाहिए। शुक्लजी के निबंधों में विषयवस्तु और व्यक्तित्व दोनों ही प्रधान हैं। उनके निबंधों की शैली में आचार्यत्व की स्पष्ट छाप है। भाव-विश्लेषण की सूक्ष्मता, शृंखला, अनुक्रम, कसाव, गठन, शब्दों का सम्यक् प्रयोग, स्वच्छ वाक्य-विन्यास, भावानुकूल भाषा

आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो शुक्लजी के निबंधों को शेष निबंधों से स्पष्टतया पृथक् कर देते हैं।

शुक्लजी के निबंधों में बुद्धि और हृदय का सुन्दर समन्वय है। चिंतन और भावुकता का मणिकांचन संयोग है। अपने निबंध-संग्रह 'चिंतामणि' की भूमिका में आचार्य लिखते हैं :—

"इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि; पर हृदय को साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ, हृदय भी थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है।" इस कथन का आशय यह हुआ कि शुक्लजी प्रतिपाद्य विषय से तटस्थ और निर्लिप्त नहीं रह सके हैं।

शक्ल-युगीन निबंधकारों में बाबू गुलाब राय, शिवपूजन सहाय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, डॉ० रघुवीर सिंह प्रमुख एवं अग्रगण्य हैं। इस युग में विषय-वैविध्य, प्रौढ़ता गम्भीरता के साथ वैयक्तिकता का भी सम्यक् योग है। प्रत्येक निबंधकार का अपना विशिष्ट क्षेत्र है। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और संस्मरणात्मक निबंधों की रचना सबसे पहले इसी युग से प्रारंभ होती है। भाषा में स्थिरता तथा प्रांजलता आती है तथा हिन्दी निबंध साहित्य गद्य साहित्य की अन्य विधाओं में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाता है।

शुक्ल-युग की समाप्ति के साथ हम वर्तमान युग में आ जाते हैं। वर्तमान युग में ललित निबंध साहित्य का अच्छा विकास हुआ है। वर्तमान काल ललित निबंधों के चरम विकास का संकेत देता है, यद्यपि कथा-साहित्य और समीक्षात्मक निबंधों की तुलना में ललित निबंध का क्षेत्र अब भी सुसमृद्ध नहीं हो पाया है। आज का जीवन इतना जटिल, व्यस्त और चिंता-संकुल बन गया है कि साहित्यकारों का मन उन्मुक्त उड़ानें भरने में मानो पंगु बन गया है। फिर भी व्यंग्य-निबंध जितने

अधिक वर्तमान युग में लिखे गए उतने पहले कभी नहीं लिखे गए थे। देश की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक दुर्व्यवस्था पर साहित्यकारों के मन में जो आक्रोश है वह व्यंग्यों की बौछार के रूप में ललित निबंधों के द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है। वस्तुतः व्यंग्यात्मकता आज का युग-धर्म बन गयी है। कहानी, कविता आदि साहित्य के अन्य रूपों में भी व्यंग्य का प्राधान्य है। आज का निबंधकार अपने जनतांत्रिक कर्तव्य के प्रति सजग है।

आज का निबंध साहित्य जीवन को समग्र रूप में चित्रित कर रहा है, उसका क्षेत्र सर्वव्यापक बन गया है। देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ एक ओर निबंधकारों का दायित्व व्यापक बन गया है तो दूसरी ओर उनकी लेखनी अधिक स्वच्छन्द और पैनी बन गयी है। सामाजिक विद्रूपताओं पर वह खुलकर और कसकर प्रहार करने लगी है। फिर भी उसमें स्वानुभूति और व्यक्तित्व का प्रकाशन प्रमुख रूप से हो रहा है। वर्तमान युग के प्रमुख निबंधकार कौन हैं ? हम उनकी सूची यहाँ नहीं देना चाहते; क्योंकि नामोल्लेख करने में कुछ प्रमुख निबंधकारों के नाम छूट जाने का भय है। शिक्षण-प्रशिक्षण के औपचारिक दायरे में जो निबंध हमें उपयुक्त प्रतीत हुए उनमें से प्रस्तुत निबंधों का संकलन किया गया है। कुछ सुन्दर और महत्त्वपूर्ण निबंधों को हम प्रस्तुत संग्रह में स्थान नहीं दे पाए। कुछ तो कक्षाध्यापन की सीमाओं के कारण और कुछ अपनी जानकारी की सीमाओं के कारण।

●

इनकमटैक्स

प्रतापनारायण मिश्र

यदि इस शब्द का यही अर्थ है कि 'आमदनी पर महसूल' तो न जाने हमारी सरकार ने हम लोगों की किस आय की वृद्धि देखी है जो यह दुःखद कर बाँधा है ! पुराने लोगों से सुनते हैं कि 'उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख निदान'; पर इस काल में यह कहावत पूर्ण रूप से उलट गई है। खेती की दशा पर हमें कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। जो चाहे दिहात में जाके देख ले, बिचारे कृषिकारों के बारहों मास दिनरात के कठिन परिश्रम करने और 'नींद नारि भोजन परिहरई' का ठीक नमूना बनने पर भी पेट भरना कठिन हो रहा है। क्या जाने किस भविष्यत् ज्ञानी कवि ने आजकल की दशा पहिले से सोच के मद्य और विषपान करने के बराबर ही हल-ग्रहण को भी त्याज्य समझा हो, और 'हालाहल हलाहलम्' लिखा हो।

उससे उतर के व्यापार समझा जाता था, सो कुछ कहना ही नहीं। हर शहर के प्रत्येक रोजगारी की दशा सरकार को हम यों नहीं समझा सकते, जब तक न्याय दृष्टि से स्वयं कुछ दिन किसी बाजार का वह गुप्त रूप न देखे ! हम जितनी बड़ी-बड़ी दुकानें देखते हैं, सभी भाँय-भाँय होती हैं। जिन्होंने हजारों रुपया अटका दिया है, उनको व्याज भी कठिन हो रहा है। दिवाले निकलना खेल-सा हो गया है। अमीर कहाते हैं वे फी सैकड़ा दो-तीन से अधिक न होंगे, जिन्हें रोजगार पेटे कुछ मिल रहता है, नहीं तो केवल पूर्व-संचित द्रव्य ही से पुरानी साख बाँधे बैठे हैं। ऐसा कोई कार ही नहीं जो सरकार ने निज हस्तगत न कर लिया हो। इस हालत में बिचारे छुटभइये

लाइसेन्स और चुगी के डर से, पहिले तो कुछ करी नहीं सकते, यदि कुछ करें तो तीन खाते हैं तेरह की भूख बनी रहती है।

हमारा कानपुर जो अब से दस वर्ष पहिले था, अब नहीं रहा। यह तो रोज सुन लीजिए कि आज फलाने बिगड़ गये, पर यह सुनने को हम मुद्दत से तरसते हैं कि इस साल फलाने इस काम में बन बैठे। जब आमदनी के इन उत्तम और मध्यम मार्गों की यह दशा है तो सेवा-वृत्तियों का कहना ही क्या? सैकड़ों पढ़े-लिखे मारे-मारे फिरते हैं। बिना सिफारिश कोई सेंत में नहीं पूछता। कुछ मिडिल क्लास की पख, कुछ बेकदरी के बायस से बिचारे बाबू लोग महँगी कैसे मजदूर उतराते फिरते हैं। कहार ढूँढ़ो तो मुश्किल से मिलै, नाच-बाच के लिए वेश्या बड़े नखरे से आवे पर हमारे 'इन्लाइटेंड' भाई से झूठ-मूठ भी कहि देव कि फलानी जगह एक हेड की जरूरत है, बस एक के बदले पचास, चुगा फलकारते, मुरैठा सम्हालते मौजूद हैं। अगले लोग जिस नौकरी को निकृष्ट वृत्ति और शूद्र का काम समझते थे उसकी लालसा बड़े-बड़े बाजपेयी ऐसी रखते हैं जैसी मतवाले भाई मुक्ति की न रखते होंगे। वह नौकरी जिनको महादेवजी की दया से मिल भी गई है उनको बबुआई की ठसक मारे डालती है। सुनते हैं, आगे चार रुपया महीने का नौकर अपने कुटुम्ब के सिवा दो-चार और आश्रितों का भरण-पोषण कर लेता था, पर हमको इसका निश्चय क्यों कर हो, जब देखते हैं कि सौ-सौ दो- दो सौ के नौकर भी, राम झूठ न बुलावै, सौ पीछे पचहत्तर तो अवश्य ऐसे होंगे जिनको हजरत गालिब का यह वाक्य अनुभूत सिद्धांत है—

> बस कि लेता हूँ हर महीने कर्ज
>
> और रहती है सूद की तकरार।
>
> मेरी तनख्वाह में तिहाई का
>
> हो गया है शरीक साहूकार।

तो भी धन्यवाद है कि खितिहरों और लालों से फिर भी बाबूजी बाबू तो कहाते हैं। हाँ, प्रोहत, पाधा, पंडा और गयावाल इत्यादि की दशा कुछ

अच्छी कह सकते थे, क्योंकि उन्हें वेमेहनत घर वैठे लक्ष्मी आती है और हमारी उपर्युक्त लोकोक्ति यों भी ठीक होती है कि—

'उत्तम भिक्षा वृत्ति है, फिरि बबुआई जान,
अधम वनिज वैपार है, खेती खोंटि निदान।'

पर नहीं, जव यह विचार होता है कृषक, व्यापारी अथवा सेवकों की यही गति रही तो कहाँ से किसी को कुछ दे सकेंगे ? बस, अब हमारा यह सिद्धान्त सत्य होने में किसी को कुछ संदेह न होगा कि जितना दरिद्र मुसलमानों के सात सौ वर्ष के प्रचंड शासन द्वारा फैला था, उतना, वरंच उससे अत्यधिक, इस नीतिमय राज्य में विस्तृत है। अव वतलाओ, पाठकगण ! इनकमटैक्स का कोषस्थ अर्थ ठीक है वा नहीं ? इसका अर्थ यों न लगेगा।

अंग्रेजी व्याकरण खोलो, उसमें लिखा है कि 'इन' 'अन' और 'डिस' किसी शब्द के प्रथम जोड़ दो तो उलटा अर्थ हो जाता है। Direct डाई-रेक्ट—सीधा, Indirect इनडाईरेक्ट—जो सीधा न हो, Known नोन—ज्ञात, Unknown अननोन—अज्ञात, Mount—चढ़ना, Dismount—उतरना, इस रीति से in इन अर्थात् नहीं है, come कम—आना, आमद Tax (टैक्स) कर। भावार्थ यह हुआ कि जिस हालत में आमदनी न हो, उसमें जो टैक्स लगै वह 'इनकमटैक्स' है ! इस पर यदि हमारे अंग्रेजी जाननेवाले पाठक यह कहें कि उटपटांग अर्थ किया है, और केवल नागरी-नागर समझें कि अन्य भाषा का अर्थ असंबद्ध है, हिन्दी पत्र में क्यों लिखा ? उनको यों समझना चाहिए कि हमारी सर-कार को ब्रह्मदेश की आमदनी अनायास हाथ लगी है, इसकी खुशी में हम पर यह टैक्स (बहुत खुश हुए तो ईंट फेंक मारी) न्यायेन लगाया गया है।

कुछ हो, हम समझें वा न समझें, पर सरकार की किसी वात में रोना-चिल्लाना वा तर्क करना योग्य नहीं, केवल 'डफ्फिनेच्छा बलीयसी' कहके संतोष करना चाहिए था, पर क्या करें, सम्पादक धर्म तो परम कठिन

है। इसमें बिना कुछ कहे उमंग की हत्या होती है। इसे कोई सुने वा न सुने पर हम हाथ जोड़ के, पायँ पड़के, दाँत दिखाके, पेट खला के यही विनय करते हैं कि अस्तु, हुआ सो हुआ, हमें क्या, जहाँ और सब प्रकार के राजदंड हैं वहाँ एक यह भी सही, वरंच और हों (पमेश्वर न करे) तो वह भी यही, पर इसकी तशखीस (जाँच) जरा न्यायशील पुरुषों को सौंपी जाय तो भी बड़ी दया हो। हमने कई विश्वस्त लोगों से सुना है कि देहात में बिचारों की वार्षिक आय पाँच सौ भी नहीं है, उनको केवल उजले कपड़ों के कारण पाँच हजार का पुरुष तजवीज करते हैं। यदि यही दशा रही तो भारत के ग़ारत होने में कोई संदेह न होगा। हमारी सर्कार स्वयं विचार देखे कि अब हम वह नहीं रहे।

खं० ३, सं० १२ (१५ फरवरी ह० सं० २)

लार्ड मिन्टो का स्वागत

बालमुकुन्द गुप्त

भगवान् करे श्रीमान् इस विनय से प्रसन्न हों—मैं इस भारत देश की मट्टी से उत्पन्न होने वाला, इसका अन्न, फल-फूल आदि खाकर प्राण धारण करनेवाला, मिल जाय तो कुछ भोजन करने वाला, नहीं तो उपवास कर जाने वाला, यदि कभी कुछ भंग प्राप्त हो जाय तो उसे पीकर प्रसन्न होने वाला, जवानी बिताकर बुढ़ापे की ओर फुर्ती से कदम बढ़ाने वाला और एक दिन प्राण-विसर्जन करके इस मातृ-भूमि की वन्दनीय मट्टी में मिलकर चिर शांति-लाभ करने की आशा रखने वाला शिवशंभु शर्मा इस देश की प्रजा का अभिनंदन-पत्र लेकर श्रीमान् की सेवा में उपस्थित हुआ हूं। इस देश की प्रजा श्रीमान् का हृदय से स्वागत करती है। आप उसके राजा के प्रतिनिधि होकर आये हैं। पाँच साल तक इस देश की ३० करोड़ प्रजा के रक्षण, पालन और शासन का भार राजा ने आपको सौंपा। इससे यहाँ की प्रजा आपको राजा के तुल्य मानकर आपका स्वागत करती है और आपके इस महान् पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए हर्ष प्रकाश करती है।

भाग्य से आप इस देश की प्रजा के शासक हुए हैं। अर्थात् यहाँ की प्रजा की इच्छा से आप यहाँ शासक नियत नहीं हुए। न यहाँ की प्रजा उस समय तक आपके विषय में कुछ जानती थी, जब कि उसने श्रीमान् के इस नियोग की खबर सुनी। किसी को श्रीमान् की ओर का कुछ भी गुमान न था। आपके नियोग की खबर इस देश में बिना मेघ की वर्षा की भाँति अचानक आ गिरी। अब भी यहाँ की प्रजा श्रीमान् के विषय में कुछ

नहीं समझी है, तथापि उसे आपके नियोग से हर्ष हुआ। आपको पाकर वह वैसी ही प्रसन्न हुई, जैसे डूबता थाह पाकर प्रसन्न होता है। उसने सोचा है कि आप तक पहुँच जाने से उसकी सब विपदों की इति हो जायगी।

भाग्यवानों से कुछ न कुछ संवंध निकाल लेना संसार की चाल है। जो लोग श्रीमान् तक पहुँच सके हैं, उन्होंने श्रीमान् से भी एक गहरा संवंध निकाल लिया है। वह लोग कहते हैं कि सौ साल पहले आपके वड़ों में से एक महानुभाव यहाँ का शासन कर गये हैं, इससे भारत का शासक होना आपके लिए कोई नई वात नहीं है। वह लोग साथ ही यह भी कहते हैं कि सौ साल पहले वाले लार्ड मिन्टो वड़े प्रजापालक थे। प्रजा को प्रसन्न रखकर शासन करना चाहते थे। यह कहकर वह श्रीमान् से भी अच्छे शासन और प्रजा-रक्षण की आशा जनाते हैं। पर यह संवंध वहुत दूर का है। सौ साल पहले की वात का कितना प्रभाव हो सकता है, नहीं कहा जा सकता। उस समय की प्रजा में से एक आदमी जीवित नहीं, जो कुछ उस समय की आँखों देखी कह सके। फिर यह भी कुछ निश्चय नहीं कि श्रीमान् अपने उस वड़े के शासन के विषय में वैसा ही विचार रखते हों, जैसा यहाँ के लोग कहते हैं। यह भी निश्चय नहीं कि श्रीमान् को सौ साल पहले की शासननीति पसन्द होगी या नहीं तथा उसका कैसा प्रभाव श्रीमान् के चित्त पर है। हाँ, एक प्रभाव देखा कि श्रीमान् के पूर्ववर्ती शासक ने अपने से सौ साल पहले के शासक की वात स्मरण करके उस समय की पोशाक में गवर्नमेंट हौस के भीतर एक नाच, नाच डाला था।

सारांश यह कि लोग जिस ढंग से श्रीमान् की वड़ाई करते हैं वह एक प्रकार की शिष्टाचार की रीति पूरी कर रहे हैं। आपकी असली वड़ाई का मौका अभी नहीं आया, पर वह मौका आपके हाथ में विलक्षण रूप से है। श्रीमान् इस देश में अभी यदि अज्ञातकुल नहीं तो अज्ञातशील अवश्य हैं। यहाँ के कुछ लोगों की समझ में आपके पूर्ववर्ती शासक ने प्रजा को वहुत सताया है और वह उसके हाथ से वहुत तंग हुई। वह समझते हैं कि आप उन पीड़ाओं को दूर कर देंगे, जो आपका पूर्ववर्ती शासक यहाँ फैला

गया है। इसीसे वह दौड़कर आपके द्वार पर आ जाते हैं। यह कदापि न समझिये कि आपके किसी गुण पर मोहित होकर जाते हैं। वह जैसे आँखों पर पट्टी बाँधे जाते हैं, वैसे ही चले आते है, जिस अँधेरे में हैं, उसी में रहते हैं !

अब यह कैसे मालूम हो कि लोग जिन बातों को कष्ट मानते हैं, उन्हें श्रीमान् भी कष्ट ही मानते हों ? अथवा आपके पूर्ववर्ती शासक ने जो काम किये, आप भी उन्हें अन्यायभरे काम मानते हों ? साथ ही एक और बात है। प्रजा के लोगों की पहुँच श्रीमान् तक बहुत कठिन है। पर आपका पूर्ववर्ती शासक आपसे पहले ही मिल चुका और जो कहना था वह कह गया। कैसे जाना जाय कि आप उसकी बात पर ध्यान न देकर प्रजा की बात पर ध्यान देंगे ? इस देश में पदार्पण करने के बाद जहाँ आपको जरा भी खड़ा होना पड़ता है, वहीं उन लोगों से घिरे हुए रहे हैं, जिन्हें आपके पूर्ववर्ती शासक का शासन पसन्द है। उसकी बात बनाई रखने को अपनी इज्जत समझते हैं। अब भी श्रीमान् चारों ओर से उन्हीं लोगों के घेरे में हैं। कुछ करने धरने की बात तो अलग रहे, श्रीमान् के विचारों को भी इतनी स्वाधीनता नहीं है कि उन लोगों के बिठाये चौकी-पहरे को जरा भी उल्लंघन कर सकें, तिस पर गजब यह कि श्रीमान् को इतनी भी खबर नहीं कि श्रीमान् की स्वाधीनता पर इतने पहरे बैठे हुए हैं। हाँ, यह खबर हो जाय तो वह हट सकते हैं।

जिस दिन श्रीमान् ने इस राजधानी में पदार्पण करके इसका सौभाग्य बढ़ाया, उस दिन प्रजा के कुछ लोगों ने सड़क के किनारे पर खड़े होकर श्रीमान् को बड़ी कठिनाई से एक दृष्टि देख पाया। इसके लिए पुलिस पहरेवालों की गाली, घूँसे और धक्के भी बरदाश्त किये। बस, उन लोगों ने श्रीमान् के श्रीमुख की एक झलक देख ली। कुछ कहने-सुनने का अवसर उन्हें न मिला, न सहज में मिल सकता। हजूर ने किसीको बुलाकर कुछ पूछताछ न की, न सही, उसका कुछ अरमान नहीं, पर जो लोग दौड़कर कुछ कहने-सुनने की आशा से हुजूर के द्वार तक गये थे, उन्हें भी उल्टे

पाँव लौट आना पड़ा। ऐसी आशा अंततः प्रजा को आपसे न थी। इस समय वह अपनी आशा को खड़ा होने के लिए स्थान नहीं पाते हैं।

एक बार एक छोटा-सा लड़का अपनी सौतेली माता से खाने को रोटी माँग रहा था। सौतेली माँ कुछ काम में लगी थी, लड़के के चिल्लाने से तंग होकर उसने उसे एक बहुत ऊँचे ताक में बिठा दिया। बेचारा भूख और रोटी दोनों को भूल नीचे उतार लेने के लिए रो-रो कर प्रार्थना करने लगा, क्योंकि उसे ऊँचे ताक से गिरकर मरने का भय हो रहा था। इतने में उस लड़के का पिता आ गया। उसने पिता से बहुत गिड़गिड़ाकर नीचे उतार लेने की प्रार्थना की। पर सौतेली माता ने पति को डाँटकर कहा, कि खबरदार! इस शरीर लड़के को वहीं टँगे रहने दो, इसने मुझे बड़ा दिक़ किया है। इस बालक की-सी दशा इस समय इस देश की प्रजा की है। श्रीमान् से वह इस समय ताक से उतार लेने की प्रार्थना करती है, रोटी नहीं माँगती। जो अत्याचार उसपर श्रीमान् के पधारने के कुछ दिन पहले से आरंभ हुआ है, उसे दूर करने के लिए गिड़गिड़ाती है, रोटी नहीं माँगती। बस, इतने ही में श्रीमान् प्रजा को प्रसन्न कर सकते हैं! सुनाम पाने का यह बहुत ही अच्छा अवसर है, यदि श्रीमान् को उसकी कुछ परवा हो।

आशा मनुष्य को बहुत लुभाती है, विशेषकर दुर्बल को परम कष्ट देती है। श्रीमान् ने इस देश में पदार्पण करके बम्बई में कहा और यहाँ भी एक बार कहा कि अपने शासनकाल में श्रीमान् इस देश में सुख-शांति बढ़ाना चाहते हैं। इससे यहाँ की प्रजा को बड़ी आशा हुई थी कि वह ताक़ से नीचे उतार ली जायगी, पर श्रीमान् के दो एक कामों तथा कौंसिल के उत्तर ने उस आशा को ढीला कर डाला है, उसे ताक से उतरने का भरोसा भी नहीं रहा।

अभी कुछ दिन आपके एक लेफ्टिनेन्ट ने कहा था कि मेरी दशा उस आदमी की-सी है, जिसके एक हिन्दू और एक मुसलमान दो जोरू हों, हिन्दू जोरू नाराज रहती हो और मुसलमान जोरू प्रसन्न। इससे वह हिन्दू जोरू को हटाकर मुसलमान बीबी से खूब प्रेम करने लगे। श्रीमान् के उस

लेफ्टिनेन्ट की ठीक वैसी दशा है या नहीं, कहा नहीं जा सकता ! पर श्रीमान् की दशा ठीक उस लड़के के पिता की-सी है, जिसकी कहानी ऊपर कही गई है। उधर उसका लड़का ताक में बैठा नीचे उतरने के लिए रोता है और इधर उसकी नवीना सुन्दरी स्त्री लड़के को खूब डराने के लिए पति पर आँख लाल करती है। प्रजा और 'प्रेस्टीज' दो खयालों में श्रीमान् फँसे हैं। प्रजा ताक का बालक है और प्रेस्टीज नवीन सुन्दरी पत्नी— किसकी बात रखेंगे ? यदि दया और वात्सल्यभाव श्रीमान् के हृदय में प्रबल हो तो प्रजा की ओर ध्यान होगा, नहीं तो प्रेस्टीज की ओर ढुलकना ही स्वाभाविक है।

अब यह विषय श्रीमान् ही के विचारने के योग्य है कि प्रजा की ओर देखना कर्तव्य है या प्रेस्टीज की। आप प्रजा की रक्षा के लिए आये हैं या प्रेस्टीज की ? यदि आपके ख्याल में प्रजारूपी लड़का ताक में बैठा रोया करे और 'उतारो, उतारो' पुकारा करे, इसी में उसका सुख और शांति है तो उसे ताक में टँगा रहने दीजिये, जैसा कि इस समय रहने दिया है। यदि उसे वहाँ से उतार कर कुछ खाने-पीने को देने में सुख है तो वैसा किया जा सकता है। यह भी हो सकता है कि उसकी विमाता को प्रसन्न करके उसे उतरवा लिया जाय, इसमें प्रजा और प्रेस्टीज दोनों की रक्षा है।

जो बात आपको भली लगे वही कीजिये—कर्तव्य समझिये वही कीजिये। इस देश की प्रजा को अब कुछ कहने-सुनने का साहस नहीं रहा। अपने भाग्य का उसे भरोसा नहीं, अपनी प्रार्थना के स्वीकार होने का विश्वास नहीं। उसने अपने को निराशा के हवाले कर दिया है। एक विनय और भी साथ-साथ की जाती है कि इस देश में श्रीमान् जो चाहें, बेखटके कर सकते हैं, किसी बात के लिए विचारने या सोच में जाने की जरूरत नहीं। प्रशंसा करनेवाले अब और चलते समय बराबर आपको घेरे रहेंगे। आप देख ही रहे हैं कि कैसे सुन्दर कासकेटों में रखकर, लम्बी-चौड़ी प्रशंसा भरे एड्रेस लेकर लोग आपकी सेवा में उपस्थित होते हैं। श्रीमान् उन्हें बुलाते भी नहीं, किसी प्रकार की आशा भी नही दिलाते, पर वह आते हैं ! इसी प्रकार हुजूर जब इस देश को छोड़ जायँगे तो हुजूरवाला को बहुत-से

एड्रेस उन लोगों से मिलेंगे, जिसका हुजूर ने कभी कुछ भला नहीं किया। बहुत लोग हुजूर की एक मूर्ति के लिए खनाखन रुपये गिन देंगे, जैसे कि हुजूर के पूर्ववर्ती वाइसराय की मूर्ति के लिए गिने जा रहे हैं। प्रजा उस शासक की कड़ाई के लिए लाख रोती है, पर इसी देश के धन से उसकी मूर्ति बनती है।

विनय हो चुकी, अब भगवान् से प्रार्थना है कि श्रीमान् का प्रताप बढ़े, यश बढ़े और जब तक यहाँ रहें, आनन्द से रहें। यहाँ की प्रजा के लिए जैसा उचित समझें करें। यद्यपि इस देश के लोगों की प्रार्थना कुछ प्रार्थना नहीं है, पर प्रार्थना की रीति है, इससे की जाती है।

(भारतमित्र, २३ सितम्बर, १९०५ ई०)

मारेसि मोहिं कुठाउँ

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

जब कैकेयी ने दशरथ से यह वर माँगा कि राम को वनवास दे दो तब दशरथ तिलमिला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर माँग ले अभी दे दूँगा, किन्तु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाईं तुलसीदासजी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुनकर लम्बी साँस भर कर कहा 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'--मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्यसमाज से है। आर्यसमाज ने भी हमें कुठावँ मारा है, कुश्ती में बुरे पेच से चित पटका है।

हमारे यहाँ पूँजी शब्दों की है। जिससे हमें काम पड़ा. चाहे और बातों में हम ठगे गए पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहाँ कई आए पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों के कमलनाल की ताँत की चोरी की तरह) किसी ने न की। यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरियावालों से। उनके यहाँ असुर शब्द बड़ी शान का था· असुर माने प्राण-वाला, जबरदस्त। हमारे इन्द्र को भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पड़ा पणियों से—फ़िनीशियन व्यापारियों से। उनसे हमने पण धातु पाया जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें ऋषि भी हो गया जो विश्वामित्र के दादा गाधि या गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था जो दुनिया को चक-

राने वाला सर्वाङ्ग सुन्दर व्याकरण हमारे यहाँ बना गया। पारस के पार्श्वों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या क्षत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्प, विस्तास्प के वजन के कृश्वाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गए। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की स्त्री यवनी तो नहीं, पर यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गए। साथ ही बारह राशियाँ मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँचा गए। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शक्लों के नामों के संस्कृत तक में हैं, पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिष में यवन-सिद्धांत को आदर से स्थान मिला। वराहमिहिर की स्त्री यवनी रही हो, या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिःशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे वेल्यूपेवल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय पर पुराने हिन्दू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। सेल्यूकस निकेटर की कन्या चन्द्रगुप्त मौर्य के जनाने में आयी, यवन-राजदूतों ने विष्णु के मंदिरों में गरुड़ध्वज बनाये और यवन राजाओं की उपाधि सोटर, त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी। गांधार से न केवल दुर्योधन की माँ गांधारी आई, बालवाली भेड़ों का नाम भी आया। बल्ख से केसर और हींग का नाम बाल्हीक आया। घोड़ों के नाम पारसीक, कांबोज, वनायुज, बाल्हीक आए। शकों के हमले हुए तो शाकपार्थिव वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से यहाँ चढ़ आये तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजा मुड़े हुए हूण की ठुड्डी की-सी नारंगी। कलचुरी राजाओं को हूणों की कन्या मिली। पंजाब में वाहीक नामक जंगली जाति आ जमी तो बेवकूफ़, बौड़म के अर्थ में (गौर्वाहीकः) मुहाविरा चल गया। हाँ, रोमवालों से कोरा व्यापार ही रहा, पर रोमन सिद्धान्त ज्योतिष के कोष में आ गया। पारसी राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क और द्रम्भ (दिरहम) और दीनार (डिना

रियस, हमारे भंडार में आ गए। अरबों ने हमारे 'हिंदसे' लिये तो ताजिक, मुथहा, इत्थशाल आदि दे भी गए। कश्मीरी कवियों को प्रेम के अर्थ में हेवाक दे गए। मुसलमान आए तो सुलताना का सुरत्राण, अमीर का हम्मीर, मुगल का मुंगल, मसजिद का मसीतिः कई शब्द आ गए। लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान अब एक हो रहा है, हम कहते हैं कि पहले एक था अब बिखर रहा है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है। उसी की नाक के नीचे बाबू लक्ष्मीचन्द वैज्ञानिक पुस्तकों में नई परिभाषा काम में लाते हैं। पिछवाड़े में प्रयाग की विज्ञान-परिषद् और ही शब्द गढ़ती है। मुसलमान आए तो कौन-सी बाबू श्यामसुन्दर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुगल को मुंगल ? तो कभी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पंडित सब सुर-त्राण कहने लग गए। एकता तब थी कि अब ?

बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे। उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे। उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा। हम तो देवानां प्रिय मूर्ख को कहा करते थे। उन्होंने पुण्य-श्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगा कर इसे पवित्र कर दिया। हम निर्वाण के माने दिए का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया। अवदान का अर्थ परम सात्त्विक दान भी उन्होंने किया।

बकौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्यसमाज ने मर्मस्थल पर वह मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। औरों ने तो गाँव को कुछ न दिया, उन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिये। इसी से कहते हैं कि 'मारेसि मोहि कुठाउँ'। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिये हैं कि इस पुरानी जमी हुई दुकानों का दिवाला निकल गया !! लेने के देने पड़ गए !!!

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, 'हिंदू, कहते हैं। जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहँगों में छिपाये जाते थे वैसे ही विदेशी

शब्द 'हिन्दू' की शरण लेनी पड़ती है और आर्यसमाज पुकार-पुकार कर जले पर नमक छिड़कता है कि हैं क्या करते हो ? हिन्दू माने काला, चोर, काफिर !! अरे भाई ! कहीं बसने भी दोगे ? हमारी मंडलियाँ भले, 'सभा' कहलावें 'समाज' नहीं कहला सकतीं। न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहें और समाज कहें (समाज पशुओं का टोला होता है ? हमारी सभाओं के पति या उपपति (गुस्ताखी माफ, उपसभापति से मुराद है) हो जावें किंतु प्रधान या उपप्रधान नहीं कहा सकते। हमारा धर्म वैदिक धर्म नहीं कहलावेगा, उसका नाम रह गया है—सनातनधर्म। हम हवन नहीं कर सकते, होम करते हैं। हमारे संस्कारों की विधि संस्कारविधि नहीं रही, वह पद्धति (पैर पीटना) रह गई। उनके समाज-मन्दिर होते हैं, हमारे सभा-भवन होते हैं। और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिक़रा हाथ से गया चाहे जयरामजी कह लो, चाहे जयश्रीकृष्ण, नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है। कहते हैं कि यह पहले-पहल ब्रह्मा का कंठ फाड़ कर निकला था। प्रत्येक मंगल-कार्य के आरंभ में हिन्दू श्रीगणेशाय नमः कहते हैं। अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है—इस मुहावरे का अर्थ है कि अभी आरम्भ हुआ है। एक वैश्य यजमान के यहाँ मृत्यु हो जाने पर पंडितजी गरुड़ पुराण की कथा कहने गए। आरंभ किया श्रीगणेशाय नमः। सेठजी चिल्ला उठे—वाह महाराज ! हमारे यहाँ तो यह बीत रहा है। और आप कहते हैं कि श्रीगणेशाय नमः। माफ करो। तब से चाल चल गई है कि गुरुड़राण की कथा में श्रीगणेशाय नमः नहीं कहते, श्रीकृष्णाय नमः कहते हैं। उसी तरह अब सनातनी हिन्दू न बोल सकते हैं न लिख सकते हैं, संध्या या यज्ञ करने पर जोर नहीं देते। श्रीमद्भागवत की कथा या ब्राह्मण-भोजन पर सन्तोष करते हैं।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूठ बोलने पर लाचार किया। यों हम लिल्लाही झूठ न बोलते, पर क्या करें। इश्कबाजी और लड़ाई में सब-कुछ जायज है। हिरण्यगर्भ के माने सोने की कौंधनी पहने हुए कृष्णचंद्र करना पड़ता है, 'चत्वारि शृङ्गा' वाले मंत्र का अर्थ मुरली करना

पड़ता है, 'अष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एकशेष करना पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों की मूर्तियाँ बनाना पड़ता है। नाम तो रह गया हिन्दू। तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते हैं काला, चोर या काफिर। अब क्या करें? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि हि + इंदु। कभी मेरुतंत्र का सहारा लेते हैं कि 'हीनं च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।' यह उमा-महेश्वर-संवाद है, कभी सुभाषित के श्लोक 'हिंदवो विंध्यमाविशन्' को पुराना कहते हैं और यह उड़ा जाते हैं कि उसी के पहले 'यवनैरवनिः क्रांता' भी कहा है, कभी महाराज कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदास-रचित विक्रम महाकाव्य में 'हिन्दूपतिः पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है। इसके लिए महाराज कश्मीर के पुस्तकालय की कल्पना की जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन ने बनाया हो, वहाँ पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना, कालिदास के विक्रम संवत् चलानेवाले विक्रम के यहाँ होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान ! भला, यूनानी नहीं) समय में हिन्दूपद के प्रयोग की कल्पना, कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है।

बाबा दयानन्द ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पच्चीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ रहे तो या तो वह गर्भ में ही मर जाय, या चिरंजीवी न हो या दुर्बलेंद्रिय जीवे। हम समझ गए कि यह हमारे बालिका-विवाह की जड़ कटी—नहीं, बालिकारम्भस पर कुठार चला। अब क्या करें? चरक कोई धर्मग्रंथ तो है नहीं कि जोड़ की दूसरी स्मृति में से दूसरा वाक्य तुर्की-बतुर्की जवाब में दे दिया जाय। धर्मग्रंथ नहीं है, आयुर्वेद का ग्रंथ है इसलिए उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेंद्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते और व्यवहार में मानते ही हैं—पर बाबा दयानन्द ने कहा तो उसकी तरदीद होनी चाहिए। एक मुरादाबादी पंडित जी लिखते हैं कि हमारे परदादा के पुस्तकालय में जो चरक की पोथी है उसमें पाठ है—

ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम् ।

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज आफ कंसेंट बिल' देता है, बावाजी क्यों सोलह कहते हैं ? चरक की छपी पोथियों में कहीं यह पाठ न मूल में है, न पाठान्तरों में । न हुआ करे—हमारे परदादा की पोथी में तो है !

इसीलिए आर्यसमाज से कहते हैं कि 'मारेसि मोहिं कुठाऊँ' ।

एक जमाना था : समय की सीढ़ियों पर

माखनलाल चतुर्वेदी

जीवन में पीछे झाँककर देखें तो घटनाएँ विचित्र प्रकार की कहानियाँ सुनाने लगती हैं। घटनाएँ मानो वह दर्शन है जो उदाहरणों में उतरकर बिना जीभ के बोलती है। घटनाओं का दर्शन यह है कि वे परिस्थितियों का पता देती हुई शताब्दियों तक बोलती रहती हैं और कभी नहीं थकतीं; मानो लोकरुचि, स्वभाव, जीवन के उतार-चढ़ाव हानि-लाभ और दुःख-सुख दूसरे प्रकार से कहे ही नहीं जा सकते; मानो पुराना जमाना जानकारी में प्रवेश करने का नया दरवाजा है। अतः पुरानी घटनाओं की तरफ देखते समय एक नया चाव-सा मालूम होता है।

सन् १८९४ की बात लगती है, क्योंकि उस समय मैं प्राइमरी के दूसरे दर्जे में पढ़ता था। मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के छिदगाँव गाँव में पढ़ता था। शाला में दो अध्यापक थे। एक मेरे पूज्य पिताजी और दूसरे भागचंद नाम के एक राजपूत सज्जन। जिस दिन की बात कह रहा हूँ उस दिन गाँव से फौज निकलने वाली थी अतः उस जाड़े भरे प्रभात में श्री भागचंद मास्टर प्रातःकाल से ही शाला के लड़कों को घेरकर सड़क पर जा खड़े हुए। फौज का निकलना थोड़ी ही देर के बाद प्रारम्भ हो गया। पिताजी भी चूड़ीदार पाजामा, धुली सफेद शेरवानी और अमामा के ड्रेस में अपने विद्यार्थियों का नेतृत्व करने लगे। कोई दोपहर के लगभग गोरे साहब और मेम साहब आये। भूख के मारे विद्यार्थियों का बुरा हाल था। फिर मेरा साथी छीतर फटी हुई लाल पगिया बाँधे था, रामकरन सुतार अच्छी लाल

पाग बाँधे था, हरलाल दर्जी फटा हुआ कुर्ता और पाजामा और बटनदार टोपी पहने था। गरज यह कि एक की ड्रेस दूसरे से नहीं मिलती थी। जब साहब और मेमसाहब पधारे तब पहले मास्टरों ने और फिर देखा-देखी विद्यार्थियों ने झुककर सलाम किया। साहब और मेम साहब घोड़ों पर बैठे हुए थे और याद आता है कि नन्हें-नन्हें बच्चों को देखकर वे थोड़ा मुसकराये। लड़कों ने – जिन्हें एक गाना पहले ही से रटा दिया गया था— अपनी बेसुरी आवाज में गाया—

विलायत बीच सब सुखधाम
राजधानी बसत अनुपम
नगर लन्दन नाम।

मुझे नहीं मालूम कि साहब इसमें से कितना समझा और कितना नहीं समझा। आज भी मैं जब कभी 'जन गण-मन अधिनायक····' सुन पाता हूँ तो मुझे 'विलायत बीच सब सुखधाम···' याद आ ही जाता है !

हिंदी का विरोध आज ही हो रहा हो सो नहीं। पुराने पंडित भी उसका विरोध जाने कब से कर रहे हैं। मेरे ही परिवार की एक बात सुनिए ··। प्राइमरी पास करने के बाद संस्कृत पढ़ने के लिए पुरानी भोपाल रियासत के नादनेर नामक गाँव में मुझे मेरे दादाजी के पास भेजा गया। वहाँ पहुँचते ही आज्ञा हुई कि यहाँ हिंदी पढ़ना-लिखना बंद कर दिया जायगा, क्योंकि हिंदी से संस्कृत के बिगड़ जाने का भय है। यह कोई १८९९ की बात है। एक दिन मैंने दादाजी की अनुपस्थिति से लाभ उठा कर उनके बस्ते से श्री लल्लूलालजी रचित सुप्रसिद्ध कृति प्रेमसागर चुरा ली। नित्य ही मैं चोरी-छिपे उसे पढ़ा करता था। उसकी घटनाएं पढ़कर मुझे याद आता है कि आँखों से पहले-पहल आँसू उस समय आये जब श्रीकृष्ण की अक्रूर के साथ वृंदावन से मथुरा विदाई हुई। उस दिन प्रेमसागर पढ़ते मुझे यह तो याद नहीं रहा कि जो समय मुझे 'सिद्धांत-कौमुदी' को देना थाव ह प्रेमसागर ने ले लिया है। इतना ही नहीं, मैं चोरी से हिंदी की

पुस्तक पढ़ता हुआ पकड़ भी लिया गया और उस पर मुझे दंड भी दिया गया। मैं नहीं जानता कि हिंदी की पुस्तक पढ़ने के इस विरोध ने मेरे मन में हिंदी की पुस्तकें पढ़ने के लिए कितनी ललक उत्पन्न कर दी।

आजकल तो चित्रपट का युग है, अतः नाटकों की बात करना लोगों की धारणा-शक्ति की परीक्षा लेना है। अब तो नारी-पात्र का अभिनय करने के लिए नारी पात्र ही आसानी से सुलभ हो जाते हैं और यह बहुत कम देखा जाता है कि नारी-पात्र का अभिनय पुरुष-पात्र को करना पड़े, किंतु वह समय बहुत समय तक रहा जिसमें पुरुष-पात्र का अभिनय भी पुरुष ही करते थे और नारी-पात्रों का भी। उत्तर भारत की राम-लीलाओं और रास-लीलाओं में आज भी यही होता है। किंतु इधर, दक्षिण भारत में, यह प्रथाएँ अब बदल गयी हैं। सन् १९११ की बात है, नर्मदेश्वर-नाटक-समाज की ओर से खंडवा में रामलीला हो रही थी। स्वर्गीय तहसीलदार प्रह्लाद अम्बादास तथा नगर के धनिक श्री बिसनदयाल अग्रवाल उसका प्रबंध करते थे। जब मंथरा के अभिनय करने का प्रसंग आया तब जो बाल-अभिनेता मंथरा के अभिनय के लिए तैयार किया गया था इस बात पर अड़ गया कि जब तक उसके हाथ में 'हेन्डकरचीफ' नहीं दिया जायगा वह मंथरा का अभिनय नहीं करेगा। चूँकि कोई दूसरा अभिनेता तैयारी करके प्रस्तुत नहीं था अतः मंथरा का अभिनय उसी ने किया और हेन्डकरचीफ हाथ में लेकर किया, जिससे वह फैशन के साथ अपने गले और गालों का पसीना भी पोंछता गया। उन दिनों जो नारी-पात्रों के अभिनय करने वाले अभिनेता थे उनके स्वभाव-प्रदर्शन को व्यवस्थापकों को सहना ही पड़ता था।

सन् १९२३-२४ में नागपुर शहर में सुप्रसिद्ध झंडा-सत्याग्रह हो रहा था। उस युग की सरकार का व्रत था कि तिरंगा झंडा लेकर नागपुर की सिविल लाइन से किसी को भी गुजरने नहीं दिया जायगा और सत्याग्रह कमेटी ने, जिसके सभापति स्वर्गीय भाई श्री जमनालाल जी बजाज थे,

तय किया था कि जब तक सरकार झंडा-सत्याग्रहियों को डंडे लेकर सिविल लाइन से गुजरने नहीं देगी तब तक सत्याग्रह जारी रहेगा। परिणामतः देश के कोने-कोने से सत्याग्रही नागपुर आ रहे थे। वे झंडा लेकर सिविल लाइन में जाते और कभी छोटी और कभी बड़ी तादाद में गिरफ्तार होते जाते। उन दिनों यह भी अनुभव हुआ कि कुछ विद्यार्थी 'सत्याग्रही' तो जेल से इसलिए क्षमा माँग कर चले आये थे कि वे कॉफी पीनेवाले थे और जेल में उन्हें कॉफी नहीं मिलती थी; यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या कम ही थी। और भी कारणों से कुछ लोगों ने जेल में क्षमार्थनाएँ की थीं - रोटियाँ कच्ची रह जाना, परिवार के लोगों का जेल-द्वार पर दहाड़ मारकर रोने लगना, तम्बाकू या भंग का जेल में न मिलना। किंतु ऐसे २०-३० व्यक्तियों को छोड़कर नागपुर और मध्यप्रांत की जेलों में दृढ़प्रतिज्ञ सत्याग्रहियों की संख्या हजारों में थी। उन दिनों खादी पहनकर नागपुर का टिकिट लेना इस प्रांत में और अन्य प्रांतों में भी मानो नागपुर के अंजनी जेल में प्रवेश का टिकट लेना था। महाराष्ट्र, गुजरात, युक्तप्रांत, बिहार, बंगाल, तामिल, मलय, आंध्र—कोई प्रांत ऐसा नहीं था जहाँ से सत्याग्रही नहीं आये। स्वर्गीय सेठ जमनालाल जी बजाज और उनके साथियों के गिरफ्तार होने पर झंडा-सत्याग्रह वंद कर देने के लिए ब्रिटिश सरकार बेहद बेचैन हो उठी थी। वह सत्याग्रहियों को बड़ी तादाद में जहाँ-तहाँ से उठाकर जेल में ले गयी और गेहूँ, दाल, चावल, घी, तेल आदि भी बड़ी संख्या में जप्त कर ले गयी। उस समय नागपुर की जनता ने बड़े गौरव से इसका जवाब दिया। गिरफ्तारी, तलाशी और जप्ती के दिन शाम होते-न-होते सत्याग्रह-आश्रम का भंडार अनाज, तेल, घी आदि पदार्थों से पुनः भर जाता था।

उन्हीं दिनों नागपुर धारासभा की बैठक भी हुई थी जिसमें खंडवा ही के प्रतिनिधि ने इस आशय की बात कही थी कि अंग्रेज सरकार दयालु है अतः सत्याग्रही मूर्खों की हरकत की तरफ उसे ध्यान नहीं देना चाहिए। उन्होंने तुलसीदास जी की पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए कहा था—

बुंद अघात सहै गिरि कैसे।
खल के वचन संत सह जैसे ॥

उस समय के धारा-सभा के देशभक्त प्रतिनिधियों ने साबित करना चाहा था कि तिरंगा राष्ट्रीय झंडा है ही नहीं ; वह तो एक चिंदी है और उससे घबड़ाने की जरूरत नहीं; किंतु मध्यप्रांत सरकार के तत्कालीन 'चीफ सेक्रेटरी' मिस्टर मिथाइस ने स्वयं कहा था कि यदि लोग इसे राष्ट्रीय झंडा नहीं मानते तो आज नागपुर के हर दूसरे मकान पर यही झंडा क्यों फहरा रहा है ? यह कहने की अलग से जरूरत नहीं कि अखिल भारतीय कांग्रेस की ओर से इसी झंडा-सत्याग्रह के संचालन के लिए सरदार पटेल आये थे । अंतिम दल मेरे ही नेतृत्व में निकाला गया था और श्रीयुत् राजेंद्र बाबू भी झंडा-सत्याग्रह की सहायता के लिए नागपुर आये थे । परवर्ती घटनाओं ने देश पर व्यक्त कर दिया है कि उसी के चिंदी को राष्ट्रीय पताका बनने का गौरव प्राप्त हुआ, किंचित् संशोधन के पश्चात् ।

एक बात सन् '२६ की सुनिए । वृंदावन में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की बैठक हो रही थी । स्वर्गीय श्री अमृतलाल चक्रवर्ती उसके अध्यक्ष थे और स्वर्गीय श्री राधाचरण गोस्वामी उसके स्वागताध्यक्ष । उन्हीं दिनों पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रयत्नों से पत्रकार-सम्मेलन की नींव पड़ी थी जिसे उन दिनों सम्पादक-सम्मेलन कहा जाता था । पत्रकार-सम्मेलन के अध्यक्ष थे स्वर्गीय श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर जी । उसी समय साहित्य सम्मेलन के ही साथ कदाचित् पहला कवि-सम्मेलन भी हुआ था जिसके सभापति कविता-कामिनीकांत आचार्य नाथूराम शंकर शर्मा थे । कवि-सम्मेलन तो अब आये दिन होते हैं किंतु उक्त कवि-सम्मेलन में घटित एक घटना उसे अविस्मरणीय बना देती है । उसमें एक कवि महाशय ने अत्यंत शृंगारपूर्ण कविता घनाक्षरी शब्दों में पढ़ी । शृंगार के उस छंद का जब विरोध किया गया तो कुछ कवि सज्जनों ने जिनके हाथ में लाठियाँ, गले में झोले थे तथा जिनकी आँखों की त्यौरियाँ चढ़ी हुई थीं धमकी के स्वर में कहा कि हम दूर-दूर से अपना किराया खर्च करके कवि-सम्मेलन में आये

हैं अतः हम कविता अवश्य पढ़ेंगे। देखा गया है कि प्रारंभ से ही कवि-सम्मेलन अखिल भारतीय पैमाने पर चाहे अलग से किया जाय अथवा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के साथ, उसमें गड़वड़ या हल्ला मचता ही रहा है—भले ही झगड़े और कवि-सम्मेलन में कोई दूर का भी संवंध नहीं हो।

चलते-चलते सन् १९२३-२४ के झंडा-सत्याग्रह की ही एक और बात का उल्लेख करना अनावश्यक न होगा। इस सत्याग्रह में श्री जमनालालजी बजाज को एक बड़ी धन-राशि का जुर्माना किया गया था और इसकी वसूली के लिए तत्कालीन सरकार ने उनकी मोटर को जप्त कर लिया था। उस मोटर को वेचकर जुर्माना वसूल करने के लिए तत्कालीन सरकार ने भूतपूर्व मध्य-प्रदेश के अनेक शहरों में उसे घुमाया किंतु ऐसा कोई व्यक्ति इस प्रांत में नहीं पाया गया जिसे उस मोटर को खरीदने के लिए राजी किया जा सके। तव वह मोटर वंवई-प्रदेश में पहले गुजरात में और फिर काठियावाड़ में भेजी गयी। काठियावाड़ के देशभक्त अमृतलाल सेठ उन दिनों एक साप्ताहिकपत्र गुजराती में निकालते थे। उन्होंने अपने साप्ताहिक में इस मोटर की वाबत लिखा था, जिसका आशय शायद यह था कि "काठियावाड़ में यह मोटर उसे खरीद सकने वाले देशघातक की तलाश में घूम रही है। भाग्यशाली मध्य-प्रदेश में यह घूम चुकी है और वहाँ कोई इसका खरीददार नहीं मिला।"—यह कहने की अलग से आवश्यकता नहीं कि गुजरात और कठियावाड़ में उस मोटर का खरीददार नहीं मिला सो नहीं मिला। जव जमनालालजी के प्रदेश मध्य-प्रदेश में देशघातक नहीं मिला तो महात्मा गांधी की जन्म-भूमि में कोई देशघातक कैसे मिल सकता था?

इस तरह घटनाएँ हैं, कुछ रेंगती हैं, कुछ घिसटती हैं, कुछ दौड़ती हैं। जो बड़ी और भयंकर घटनाएँ हैं वे स्वयं अपनी कहानी और अपना दार्शनिक दृष्टि-विंदु उसी तरह व्यक्त करती चलती हैं जिस तरह सोना और चाँदी अपना मूल्य व्यक्त किया करते हैं। कुछ घटनाओं पर प्रहार के निशान और संहार के वातावरण उसी तरह शोभा पाते हैं जिस प्रकार नन्हें बच्चों की माताएँ अपनी संतान को नजर न लगने देने के लिए डिठौना

लगा दिया करती हैं। विशेष घटनाएँ विशेष विस्तार और विशेष चढ़ाव-उतार चाहती हैं। उनका महज वर्णन लम्बा हुए बिना नहीं रहता। किंतु घटना छोटी हो या बड़ी वह अपने जमाने को व्यक्त किये बिना नहीं रहती। आज की अथवा आगे की पीढ़ी को चाहे अचंभा हो किंतु घटनाओं की छोटी-बड़ी सीढ़ियों पर चढ़कर जमानों का निर्माण होता रहा है।

●

अवशेष

डॉ॰ रघुवीर सिंह

महान् मुगल-सम्राट अकबर का प्यारा नगर— आगरा—आज मृतप्राय-सा हो रहा है। उसके ऊबड़-खावड़ धूल भरे रास्तों और उन तंग गलियों में यह स्पष्ट देख पड़ता है कि किसी समय यह नगर भारत के उस विशाल समृद्धिपूर्ण साम्राज्य की राजधानी रहा था, किंतु ज्यों-ज्यों उसका तत्कालीन नाम 'अकबराबाद' भूलता गया त्यों-त्यों उसकी वह समृद्धि भी विलीन होती गयी। इस नगरी के वृद्ध क्षीण हृदय जुमा मस्जिद में अब भी जीवन के कुछ चिह्न देख पड़ते हैं, किंतु इसका बहुत कुछ श्रेय मुस्लिम-काल की उन मृतात्माओं को है, अपने अंचल में समेट कर भी विकराल मृत्यु जिनको मानव-समाज के स्मृतिसंसार से सर्वदा के लिए निर्वासित नहीं कर सकी; काल के क्रूर हाथों उनका नश्वर शरीर नष्ट हो गया, सब कुछ लोप हो गया, किंतु स्मृतिलोक में आज भी उनका पूर्ण स्वरूप विद्यमान है।

मुग़ल-साम्राज्य भंग हो गया। किंतु फिर भी उन दिनों की स्मृतियाँ आगरा के वायुमंडल में रम रही हैं। जमीन से मीलों ऊँची हवा में आज भी ऐश्वर्य विलास की मादक सुगंध, भग्न प्रेम या मृत आदर्शों पर बहाये गये आँसुओं की वाष्प तथा उच्छ्वासों और उसासों से तप्त वायु फैला हुआ है। भग्न मानव-प्रेम की समाधि, मुगल-साम्राज्य के आहत यौवन का वह स्मारक ताज, आज भी अपने आँसुओं से तथा अपनी आहों से आगरा के वायुमंडल को वाष्पमय कर रहा है। आज भी उस चिरविरही प्रेमी के आँसुओं का सोता यमुना नदी में जाकर अदृश्य रूप से मिलता है।

ताज में दफनाये गये मुगल-सम्राट् के तड़पते हुए युवा हृदय की धुकधुकाहट से जमुना के वक्षःस्थल पर छोटी-छोटी तरंगें उठती हैं, और दूर-दूर तक उसके निश्वासों की मर-मर ध्वनि आज भी सुन पड़ती है। कठोर भाग्य के सम्मुख सुकोमल मानव-हृदय की विवशता को देखकर यमुना भी हताश हो जाती है, ताज के पास पहुँचते-पहुँचते वल खा जाती है, उस समाधि को छूकर उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ता है, वह सीधा बह निकलता है।

आगरे का वह उन्नत किला, अपने गत यौवन पर इतरा-इतरा कर रह जाता है। प्रातःकाल बाल सूर्य की आशामयी किरणें जब उस रक्तवर्ण किले पर गिरती हैं, तब वह चौंक उठता है। उस स्वर्ण-प्रभात में वह भूल जाता है कि अब उसके उन गौरवपूर्ण दिनों का अंत हो गया है, और एक बार पुनः पूर्णतया कांतियुक्त हो जाता है। किंतु कुछ ही समय में उसका सुख-स्वप्न भंग हो जाता है, उसकी वह ज्योति और उसका वह सुखमय उल्लास, उदासी तथा निराशापूर्ण सुनसान वातावरण में परिणत हो जाते हैं। आशापूर्ण हर्ष से दमकते हुए उस उज्ज्वल रक्तवर्ण मुख पर पतन की स्मृति-छाया फैलने लगती है। और दिवस भर के उत्थान के बाद संध्या समय अपने पतन पर क्षुब्ध मरीचिमाली जब प्रतीची के पादप-पुंज में अपना मुख छिपाने को दौड़ पड़ते हैं और बिदा होने से पूर्व अश्रुपूर्ण नेत्रों से जब वे उस अमर करुण-कहानी की ओर एक निराशापूर्ण दृष्टि डालते हैं तब तो वह पुराना किला रो पड़ता है, और अपने लाल-लाल मुख पर, जहाँ आज भी सौंदर्यपूर्ण विगत यौवन की झलक देख पड़ती है अंधकार का काला घूँघट खींच लेता है।

वर्तमानकालीन दशा पर ज्यों ही आत्मविस्मृति का पट गिरता है, अंतःचक्षु खुल जाते हैं और पुनः पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं, उस पुराने रंगमंच पर पुनः उस विगत जीवन का नाटक देख पड़ता है। सुंदर सुम्मन बुर्ज को एक बार फिर उस दिन की याद आ जाती है, जब दुःख और करुणापूर्ण वातावरण में मृत्यु-शय्या पर पड़ा कैदी शाहजहाँ ताज को

देख-देख कर उसासें भर रहा था. जहानआरा अपने सम्मुख निराशापूर्ण निस्संग करुण जीवन के भीषण तम को आते देखकर रो रही थी, जब उनके एकमात्र साथी, श्वेत पत्थरों तक के पाषाण हृदय पिघल गये थे और जब वह रत्नखचित बुर्ज भी रोने लगा था; उसके आँसू ढुलक-ढुलक कर ओस की बूँदों के रूप में इधर-उधर बिखर रहे थे ।

और वह मोती मसजिद, लाल-लाल किले का वह उज्ज्वल मोती··· आज वह भी खोखला हो गया । उसका ऊपरी आवरण, उसकी चमक-दमक वैसी ही है किंतु उसकी वह आभा अब लुप्त हो गयी । उसका वह रिक्त भीतरी भाग धूल-धूसरित हो रहा है, और आज एकाध व्यक्ति के अतिरिक्त उस मसजिद में परमपिता का भी नामलेवा नहीं मिलता । प्रति दिन सूर्य पूर्व से पश्चिम को चला जाता है, सारे दिन तपने के बाद संध्या हो जाती है, सिहर-सिहर कर वायु बहती है, किंतु ये शोयत प्रस्तर-खंड सुनसान अकेले ही खड़े अपने दिन गिना करते हैं । उस निर्जन स्थान में एकाध व्यक्ति को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों यहाँ आने वाले व्यक्तियों में से किसी की आत्मा अपनी पुरानी स्मृतियों के बंधन में पड़कर खिंची चली आयी है । प्रार्थना के समय 'मुअज्जन' की आवाज सुनकर यही प्रतीत होता है कि शताब्दियों पहिले गूँजने वाली हलचल, चहल-पहल तथा शोरगुल की प्रतिध्वनि आज भी उस सुंदर परित्यक्त मसजिद में गूँज रही है ।

उस लाल-लाल किले में मोती मसजिद, खास महल आदि श्वेत भव्य भवनों को देखकर यही प्रतीत होता है कि अपने प्रेमी की, अपने संरक्षक की मृत्यु से उदासीन होकर इस किले को वैराग्य हो गया, अपने अरुण शरीर पर शोयत भस्म रमा ली । उस महान् किले का यह वैराग्य. उस जीवनपूर्ण स्थान की यह निर्जनता, ऐश्वर्य-विलास से भरपूर सोते में यह उदासी, और उन रंग-विरंगे, चित्रित तथा सजे-सजाये महलों का यह नग्न स्वरूप···साधारण दर्शकों तक के हृदयों को हिला देता है, तब क्यों न वह किला संन्यास ले ले ! संन्यास, संन्यास···तभी तो चिरसहचरी यमुना

को भी इसने लात लगाकर दूर हटा दिया, ठुकराकर अपने से विलग किया और अपने सारे बाह्य द्वार बंद कर दिये। अब तो इनी-गिनी बार ही उसके नेत्र-पटल खुलते हैं, संसार को दो नजर देखकर पुनः समाधिस्थ हो जाता है वह किला। इस दु:खी दिल को सताना, उस निर्जन स्थान को फिर मनुष्य की याद दिलाना""""भाई ! सम्हल कर जाना वहाँ; वहाँ के वे क्षुधित पाषाण, वह प्यासी भूमि······न जाने कितनी आत्माओं को निगल कर, न जानें कितनों के यौवन को कुचल कर एवं न जाने कितनों के दिलों को छिन्न-भिन्न करके उनके जीवन-रस को पीकर भी तृप्त नहीं हुई; आज भी वह आपके आँसुओं को पीने के लिए, कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो आपकी सुखद घड़ियों को भी विनष्ट करने को उतारू है।

उस किले का यह लाल-लाल जहाँगीरी महल—सुरा, सुंदरी और संगीत के उस अनन्य उपासक की वह विलास-भूमि—आज भी वह यौवन की लाली से रंगा हुआ है। प्रतिदिन अंधकारपूर्ण रात्रि में जब भूतकाल की यवनिका उठ जाती है, तब पुनः उन दिनों का नाट्य होता देख पड़ता है, जब अनेकों की वासनाएँ अतृप्त रह जाती थीं, कइयों की जीवन-घड़ियाँ निराशा के ही अंधकारमय वातावरण में बीत जाती थीं और जब प्रेम के उस बालुकामय शांति-जलविहीन ऊसर में पड़े-पड़े अनेकों उसकी गरमी के मारे तड़पते थे। उस सुनसान परित्यक्त महल में रात्रि के समय सुन पड़ती हैं उल्लासपूर्ण हास्य तथा विषादमय करुण-क्रंदन की प्रतिध्वनियाँ। वे अशांत आत्माएँ आज भी उन वैभवविहीन खंडहरों में घूमती हैं और सारी रात रो-रो कर अपने अपार्थिव अश्रुओं से उन पत्थरों को लथ पथ कर देती हैं। किंतु जब धीरे-धीरे पूर्व में अरुण की लाली देख पड़ती है, आसमान पर स्वच्छ नीला-नीला परदा पड़ने लगता है, तब पुनः इन महलों में वही सन्नाटा छा जाता है, और निस्तब्धता का एकछत्र साम्राज्य हो जाता है। उन मृतात्माओं की यदि कोई स्मृति शेष रह जाती है तो उनके वे बिखरे हुए अश्रुकण, किंतु क्रूर काल उन्हें भी सुखा देना चाहता है। यहाँ की शांति यदि कभी भंग होती है तो केवल दर्शकों की पद-ध्वनि से

तथा 'गाइडों' की टूटी-फूटी अंग्रेजी शब्दावली द्वारा। रात और दिन में कितना अंतर होता है! विस्मृति के पट के इधर और उधर ··एक ही पट की दूरी, वास्तविकता और स्वप्न, भूत तथा वर्तमान···कुछ ही क्षणों की देरी और हजारों वर्षों का-सा भेद····कुछ भी समझ नहीं पड़ता कि यह है क्या।

और उस मृतप्राय किले के अब केवल कंकालावशेष रह गये हैं; उसका हृदय भी बाहर निकल पड़ा हो ऐसा प्रतीत होता है। नक्षत्र-खचित आकाश के चँदवे के नीचे पड़ा है वह काले पत्थर का टूटा हुआ सिंहासन, जिस पर किसी समय गुदगुदे मखमल का आवरण छाया हुआ होगा; और जिस पत्थर तक को सुशोभित करने के लिए, जिसे सुसज्जित बनाने के वास्ते अनेकानेक प्रयत्न किये जाते थे, आज उसी की यह दशा है। वह पत्थर है, किंतु उसमें भी भावुकता थी; वह काला है किंतु फिर भी उसमें प्रेम का शुद्ध स्वच्छ सोता बहता था। अपने निर्माता के वंशजों का पूर्ण पतन तथा उनके स्थान पर छोटे-छोटे नगण्य शासकों को सिर उठाते देखकर जब इस किले ने वैराग्य ले लिया, अपने यौवनपूर्ण रक्तमय गात्रों पर भगवाँ डाल लिया, शायद भस्म रमा ली, तो उसका वह छोटा हृदय भी क्षुब्ध होकर तड़प उठा, अपने आवरणों में से बाहर निकल पड़ा, वह बेचारा भी रो दिया। वह पत्थर-हृदय भी अंत में विदीर्ण हो गया और उसमें से भी रक्त की दो बूँदें टपक पड़ीं। मुगलों के पतन को देखकर पत्थरों तक का दिल टूट गया, उन्होंने भी रुधिर के आँसू बहाये·· परंतु वे मुग़ल, उन महान् सम्राटों के वे निकम्मे वंशज, ऐश्वर्य-विलास में पड़े सुख नींद सो रहे थे···उनकी वही नींद चिरनिद्रा में परिणत हो गयी।

और वह शीशमहल, मानव-कांचन-हृदय के टुकड़ों से सुशोभित वह स्थान कितना सुंदर, दीप्तिमान, भीषण तथा साथ ही कितना रहस्यमय भी है! यौवन, ऐश्वर्य तथा राजमद से उन्मत्त सम्राटों को अपने खेल के लिए मानव-हृदय से अधिक आकर्षक वस्तु न मिली। अपने विनोद के लिए अपना दिल बहलाने के हेतु उन्होंने अनेकों के हृदय चकनाचूर कर डाले।

भोले-भाले हृदयों के उन स्फटिक टुकड़ों से उन्होंने अपने विलास-भवन को सजाया। एक बार तो वह जगमगा उठा। टूटकर भी हृदय अपनी सुंदरता नहीं खोते, उसके विपरीत रक्त से सने हुए वे टुकड़े अधिकाधिक आभापूर्ण देख पड़ते हैं। परंतु जब साम्राज्य के यौवन की रक्तिम ज्योति विलीन हो गयी, जब उस चमकते हुए रक्त की लाली भी कालिमा में परिणत होने लगा, तब तो मानव-जीवन पर कालिमामयी यवनिका डालने वाली उस कराल मृत्यु का भयंकर तमसावृत्त पटल उस स्थान पर गिर पड़ा; उस शीशमहल में अंधकार ही अंधकार छा गया।

मानव-हृदय एक भयंकर पहेली है। दूसरों के लिए एक बंद पुर्जा है; उसके भेद, उसके भावों को जानना एक असंभव बात है और उन हृदयों की उन गुप्त गहरी दरारों का अंधकार···एक हृदय के अंधकार को भी दूर करना कितना कठिन हो जाता है और विशेषतया उन दरारों को प्रकाशपूर्ण बनाना···और यहाँ तो अनेकों मानव-हृदय थे, सैकड़ों-हजारों—और उन हृदयों के टुकड़े, वे सिकुड़े हुए रक्त से सने खंड····उन्होंने अपनी दरारों में संचित अंधकार को उस शीशमहल में उँडेल दिया। मुगलों ने शीशमहल की सृष्टि की, और सोचा कि प्रत्येक मानव-हृदय में उन्हीं का प्रतिबिंब दिखाई देगा····परंतु यह कालिमा और मानव-हृदय की वे अनबूझ पहेलियाँ···। मुगलों ने उमड़ते हुए यौवन में, प्रेम के प्रवाह में एक चमक देखी और उसी से संतुष्ट हो गये। दर्शकों को भी सम्यक् प्रकारेण बताने के लिए तथा उस अंधकार को क्षणभर के लिए मिटाने के हेतु गंधक जलाकर आज भी ज्योति की जाती है। मुगलों के समान दर्शक भी उन कांच के टुकड़ों में एक बार अपना प्रतिबिंब देखकर समझते हैं कि उन्होंने संपूर्ण दृश्य देख लिया। परंतु उस अंधकार को कौन मिटा सकता है? कौन मानव-हृदय के तल को पहुँच पाया है? किसे उन छोटे-छोटे दिलों का रहस्य जान पड़ा है? कौन उन टूटे हुए हृदय की संपूर्ण व्यथा को, उनकी कसक को समझ सका है?···यह अंधकार तो निरंतर बढ़ता ही जाता है।

सुंदरता में ताज का प्रतियोगी, ऐतमादुद्दौला का मकबरा, भाग्य की चंचलता का मूर्तिमान् स्वरूप है। राह-राह भटकने वाले भिखारी का मकबरा, भूखों मरते तथा भाग्य की मार से पीड़ित रंक की कब्र ऐसी होगी, यह कौन जानता था ? यह श्वेत समाधि भाग्य के कठोर थपेड़े खाये हुए व्यक्ति के सुखांत जीवन की कहानी है। श्वेत पत्थर के इस मकबरे के स्वरूप में सौभाग्य घनीभूत हो गया है। यौवन-मद से उन्मत्त साम्राज्य में नूरजहाँ के उत्थान के साथ ही वासनाओं के भावी अंधड़ के आगम की सूचना देने वाली तथा उस अंधड़ में भी साम्राज्य के पथ को प्रदीप्त करने वाली यह ज्योति मुगल-स्थापत्य-कला की एक अद्भुत वस्तु है।

और उस मृतप्राय नगरी से कोई पाँच मील दूर स्थित है वह अस्थि-विहीन पंजर। अपनी प्रियतमा नगरी की भविष्य में होने वाली दुर्दशा की आशंका तक से अभिभूत होकर ही अकबर ने अपना अंतिम निवास-स्थान उस नगरी से कोसों दूर बनाने का आयोजन किया था। अकबर का सुकोमल हृदय मिट्टी में मिलकर भी अपनी कृतियों की दुर्दशा नहीं देख सकता था और न देखना ही चाहता था। उस शांत वातावरणपूर्ण सुरम्य उद्यान में स्थित यह सुंदर समाधि अपने ढंग की एक ही है। अकबर के व्यक्तित्व के समान ही समाधि दूर से एक साधारण-सी वस्तु जान पड़ती है, किंतु ज्यों-ज्यों उसके पास जाते हैं, उस समाधि-भवन में पदार्पण करते हैं, त्यों-त्यों उसकी महत्ता, विशालता एवं विशेषताएँ अधिकाधिक दिखाई पड़ती हैं। उस महान् अव्यावहारिक धर्म 'दिन-ए-इलाही' के इस एकमात्र स्मारक को निर्माण करने में अकबर ने अनेकानेक वास्तुकलाओं के आदर्शों का अनोखा सम्मिश्रण किया था।

ध्रुव की ओर सिर किये अकबर अपनी कब्र में लेटा था। एक ध्रुव को लेकर ही उसने अपने समस्त जीवन तथा सारी नीति की स्थापना की थी और उसके उस महान् आदर्श ने विश्व-बंधुत्व के उस टिमटिमाते हुए ध्रुव ने मृत अकबर को भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अकबर का वह छोटा-सा शव उस विशाल समाधि में भी नहीं समा सका, वह वहाँ शांति

से नहीं रह सका। विश्व-प्रेम तथा मानव-भ्रातृत्व के प्रचारक अकबर के अंतिम अवशेष, वे मुट्ठीभर हड्डियाँ भी विश्व में मिल जाना चाहती थीं। विशालहृदय अकबर मर कर भी कठोर पत्थरों की उस विशाल, किंतु आत्मा की दृष्टि से बहुत ही संकुचित परिधि में नहीं समा सका। अपने अप्राप्त आदर्शों की ही अग्नि में जलकर उसकी अस्थियाँ भी भस्मसात् हो गयीं और वह भस्म वायुमंडल में व्याप्त होकर विश्व के कोने-कोने में समा गयी। अकबर की हड्डियाँ भस्मीभूत हो गयीं, परंतु अपने आदर्शों को न प्राप्त कर सकने के कारण उस महान् सम्राट् की वह प्रदीप्त हृदय-ज्वाला आज भी बुझी नहीं है; उस मिट्टी के दीपरूपी हृदय में अगाध मानव-स्नेह भरा है, उसमें सदिच्छाओं तथा शुभ भावनाओं की शुद्ध श्वेत बत्ती पड़ी है और वह दिया तिल-तिल कर जलता है। वह टिमटिमाती हुई लौ आज भी अकबर की समाधि पर जल रही है और धार्मिक संकीर्णता के अंधकार से पूर्ण, विश्व के सदृश्य गोल तथा विशाल गुंबज में वह उस महान् आदर्श की ओर इंगित करती है, जिसको प्राप्त करने के लिए शताब्दियों पहिले अकबर ने प्रयत्न किया था, और जिसे आज भी भारतीय राष्ट्र नहीं प्राप्त कर सका है।

मानव-जीवन एक पहेली है, और उससे भी अधिक अनबूझ वस्तु है—विधि का विधान। मनुष्य जीवन के साथ खेलता है, जीवन ही उसके लिए मनोरंजन की एकमात्र वस्तु है, और वही जीवन इस लोक में फैलकर संसार-व्यापी हो जाता है। संसार उस बिखरे हुए जीवन को देखकर हँस देता है या ठुकरा देता है। परंतु जीवन बीत चुकने पर जब मनुष्य उसे समेटकर इस लोक से विदा लेता है तब संसार उस विगत आत्मा के संसर्ग में आयी हुई वस्तुओं पर प्रहार कर या उन्हें चूमकर समझ लेता है कि वह उस अंतर्हित आत्मा के प्रति अपने भाव प्रकट कर रहा है। उस मृत व्यक्ति के पाप या पुण्य का भार उठाते हैं उसके जीवन से संबद्ध ईंट और पत्थर, उसकी स्मृतियों के अवशेष। किसका कृत्य और किसे यह दंड''''परंतु यही संसार का नियम है, विधि का ऐसा ही विधान है।

बिखरे पड़े हैं मुगल-सम्राटों के जीवन के भग्नावशेष, उस मृतप्राय नगरी में। जिन्होंने उस नगरी का निर्माण किया था उनका अंत हो गया, उनका नामलेवा भी न रहा। सब कुछ विनष्ट हो गया; वह गौरव, वह ऐश्वर्य, वह समृद्धि, वह सत्ता—सब विलीन हो गये। मुगल-साम्राज्य के उन महान् मुगल-सम्राटों की स्मृतियाँ, उन स्मृतियों के वे रहे-सहे अवशेष, यत्र-तत्र बिखरे हुए वैभवहीन वे खंडहर, उन सम्राटों के विलास-स्थान, ऐश्वर्य के वे आगार, उनके मनोभावों के वे स्मारक.........सब शताब्दियों से धूल-धूसरित हो रहे हैं, पानी-पत्थर, सरदी-गरमी की मार सह रहे हैं। उन्हें निर्माण करने में, उनके निर्माताओं के लिए विलास और सुख की सामग्री एकत्र करने में जो-जो पाप तथा सहस्रों दरिद्रियों एवं पीड़ितों के हृदयों को कुचलकर जो-जो अत्याचार किये थे, उन्हीं सबका प्रायश्चित्त आगरे के ये भग्नावशेष कर रहे हैं। कब जाकर यह प्रायश्चित्त संपूर्ण होगा, यह कौन जानता है कि कुछ बता सके।

क्या लिखूँ ?

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

मुझे आज लिखना ही पड़ेगा। अँग्रेजी के प्रसिद्ध निबंध-लेखक ए० जी० गार्डिनर का कथन है कि लिखने की एक विशेष मानसिक स्थिति होती है। उस समय मन में कुछ ऐसी उमंग-सी उठती है, हृदय में ऐसी कुछ स्फूर्ति-सी होती है, मस्तिष्क में कुछ ऐसा आवेग-सा उत्पन्न होता है कि लेख लिखना ही पड़ता है। उस समय विषय की चिंता नहीं रहती। कोई भी विषय हो, उसमें हम अपने हृदय के आवेग को भर ही देते हैं। हैट टाँगने के लिए कोई खूँटी काम दे सकती है। उसी तरह अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए कोई भी विषय उपयुक्त है। असली वस्तु है हैट, खूँटी नहीं। इसी तरह मन के भाव ही तो यथार्थ वस्तु हैं, विषय नहीं। गार्डिनर साहब के इस कथन की यथार्थता में मुझे संदेह नहीं, पर मेरे लिए कठिनता यह है कि मैंने उस मानसिक स्थिति का अनुभव नहीं किया जिसमें भाव अपने-आप उत्थित हो जाते हैं। मुझे तो सोचना पड़ता है, परिश्रम करना पड़ता है, तब कहीं मैं एक निबंध लिख सकता हूँ। आज तो मुझे विशेष परिश्रम करना पड़ेगा, क्योंकि मुझे कोई साधारण निबंध नहीं लिखना है। आज मुझे नमिता और अमिता के लिए आदर्श निबंध लिखना होगा। नमिता का आदेश है कि मैं 'दूर के ढोल सुहावने होते हैं' विषय पर लिखूँ। अमिता का आग्रह है कि मैं 'समाज-सुधार' पर लिखूँ। ये दोनों ही विषय परीक्षा में आ चुके हैं और इन दोनों पर आदर्श निबंध लिखकर मुझे उन दोनों को निबंध-रचना का रहस्य समझाना पड़ेगा।

दूर के ढोल सुहावने अवश्य होते हैं पर क्या वे इतने सुहावने होते हैं कि उन पर पाँच पेज लिखा जा सके। इस प्रकार जिस समाज-सुधार की चर्चा अनादिकाल से लेकर आज तक होती आ रही है और जिसके संबंध में बड़े-बड़े विज्ञों में भी विरोध है उसको मैं पाँच पेजों में कैसे लिख दूँ ?

प्रेमचंद जी ने 'बड़े भाई साहब' के द्वारा निबंध-रचना के संबंध में जो बातें कही हैं उनकी पुष्टि सभी छात्र करेंगे। 'बड़े भाई साहब' ने खूब झल्ला कर कहा—मास्टरों ने कह दिया 'समय की पाबंदी' पर एक निबंध लिखो जो चार पन्नों से कम न हो। अब आप कापी सामने खोले, कलम हाथ में लिये, उनके नामों को रोइए। कौन नहीं जानता कि समय की पाबंदी बड़ी अच्छी बात है ? इससे आदमी के जीवन में संयम आ जाता है, दूसरों पर स्नेह होने लगता है और कारोबार में उन्नति होने लगती है। पर इस जरा-सी बात पर चार पन्ने कैसे लिखूँ ? जो बात एक वाक्य में कही जा सकती है उसे चार पन्नों में लिखने की क्या जरूरत ? मैं तो इसे हिमाकत कहता हूँ। यह तो समय की किफायत नहीं, बल्कि उसका दुरुपयोग है कि व्यर्थ में किसी बात को ठूँस दिया जाय। हम चाहते हैं, आदमी को जो कुछ कहना है चटपट कह दे और अपनी राह ले। लेकिन नहीं, आपको चार पन्ने रँगने पड़ेंगे, चाहे जैसे लिखिए। और पन्ने भी 'फुलस्केप' के आकार के। यह छात्रों पर अत्याचार नहीं तो क्या है ? अनर्थ तो यह है कि कहा जाता है कि संक्षेप में लिखो। समय की पाबंदी पर संक्षेप में एक निबंध लिखो जो चार पन्नों से कम न हो। ठीक। संक्षेप में तो चार पन्ने हुए, नहीं तो शायद सौ-दो सौ पन्ने लिखवाते। तेज भी दौड़िए और धीरे-धीरे भी ! है उल्टी बात या नहीं ? बालक भी इतनी बात समझ सकता है, लेकिन इन अध्यापकों को इतनी तमीज नहीं। उस पर दावा है कि हम अध्यापक हैं, अभाग्यवश मैं भी एक स्कूल का अध्यापक हूँ। मुझे भी छात्रों को निबंध-रचना की शिक्षा देनी पड़ती है। अतएव छात्रों के इस आक्षेप से भी नहीं बच सकता। कुछ लड़के ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें रचना में आनंद आता है। पर अधिकांश लड़के यही नहीं समझ

पाते कि वे लिखें तो क्या लिखें। इसीलिए आज़ मुझे यहाँ निबंध के संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता हो गई है।

मैंने सोचा कि सबसे पहले निबंध-शास्त्र के आचार्यों की सम्मति जान लूँ। पहिले तो यही समझ लूँ कि आदर्श निबंध है क्या और वह कैसे लिखा जाता है, तब फिर मैं विषय की चिंता करूँगा। इसलिए मैंने निबंध-शास्त्र के कई आचार्यों की रचनाएँ देखीं। एक विद्वान का कथन है कि निबंध छोटा होना चाहिए। छोटा निबंध बड़े की अपेक्षा ज्यादा अच्छा होता है, क्योंकि बड़े निबंध में रचना की सुंदरता नहीं बनी रह सकती। इस कथन को मान लेने में ही मेरा लाभ है। मुझे छोटा ही निबंध लिखना है, बड़ा नहीं। पर लिखूँ कैसे ? निबंध-शास्त्र के उन्हीं आचार्य महोदय का कथन है कि निबंध के दो प्रधान अंग हैं—सामग्री और शैली। पहले तो मुझे सामग्री एकत्रित करनी होगी, विचार-समूह संचित करना होगा। इसके लिए मुझे मनन करना चाहिए। यह तो सच है कि जिसने जिस विषय का अच्छा अध्ययन किया है, उसके मस्तिष्क में उस विषय के विचार आते हैं। पर यह कौन जानता था कि 'दूर के ढोल सुहावने' पर भी निबंध लिखना होगा। यदि यह बात पहले से ज्ञात होती तो पुस्तकालय में जाकर इस विषय का अनुसंधान कर लेता, पर अब समय नहीं है। मुझे तो यहीं बैठकर दो ही घंटों में दो निबंध तैयार कर देने होंगे। यहाँ न तो विश्व-कोष है और न कोई ऐसा ग्रंथ जिसमें इन विषयों की सामग्री उपलब्ध हो सके। अब तो मुझे अपने ही ज्ञान पर विश्वास कर लिखना होगा। विज्ञों का कथन है कि निबंध लिखने के पहले मुझे 'दूर के ढोल सुहावने' की रूपरेखा बनानी है। मैं सोच ही नहीं सकता कि इस विषय की कैसी रूप-रेखा हो। निबंध लिख देने के बाद मैं उसका सारांश कुछ ही वाक्यों में भले ही लिख दूँ, पर निबंध लिखने के पहिले उसका सार दस-पाँच वाक्यों में कैसे लिखा जाय ? क्या सचमुच हिन्दी के सब विज्ञ लेखक पहिले से अपने-अपने निबंधों के लिए रूपरेखा तैयार कर लेते हैं ? ए० जी० गार्डिनर को तो अपने लेखों का शीर्षक बनाने में ही सबसे अधिक कठिनाई होती

है। उन्होंने लिखा है कि मैं लेख लिखता हूँ, और शीर्षक देने का भार मैं अपने मित्र पर छोड़ देता हूँ। उन्होंने यह भी लिखा है कि शेक्सपियर को भी नाटक लिखने में जितनी कठिनता न हुई होगी उतनी कठिनता नाटक के नामकरण में हुई होगी। तभी तो घबरा कर नाम न रख सकने के कारण उन्होंने अपने एक नाटक का नाम रक्खा 'जैसा तुम चाहो'। इसीलिए मुझसे तो यह रूपरेखा तैयार न होगी। अब मुझे शैली निश्चित करना है। आचार्य महोदय का कथन है कि भाषा में प्रवाह होना चाहिए। इसके लिए वाक्य छोटे-छोटे हों, पर एक-दूसरे से संबद्ध। यह तो बिल्कुल ठीक है। मैं छोटे-छोटे वाक्य अच्छी तरह लिख सकता हूँ। पर मैं हूँ मास्टर। कहीं नमिता और अमिता यह न समझ बैठें कि मैं यह निबंध बहुत मोठी अक्ल वालों के लिए लिख रहा हूँ। अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए, अपना गौरव स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि वाक्य कम से कम आधे पृष्ठ में खतम हों। वाणभट्ट ने कादम्बरी में ऐसे ही वाक्य लिखे हैं। वाक्यों में कुछ अस्पष्टता भी चाहिए, क्योंकि यह अस्पष्टता या दुर्बोधता गांभीर्य ला देती है। इसीलिए संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्री हर्ष ने जान-बूझ कर अपने काव्य में ऐसी गुत्थियाँ डाल दी हैं जो अज्ञों से न सुलझ सकें और सेनापति ने भी अपनी कविता मूढ़ों के लिए दुर्बोध कर दी है। तभी तो अलंकारों, मुहावरों और लोकोक्तियों का समावेश भी निबंधों के लिए आवश्यक बतलाया जाता है। तब क्या किया जाय ?

अंग्रेजी में निबंध या प्रबंध के लिए जिस 'एसे' शब्द का प्रयोग होता है, उसके मूल में व्यक्ति की अपनी चेष्टा या प्रयास का भाव विद्यमान रहता है, यह उसकी चेष्टा है इसलिए अन्य रचनाओं की अपेक्षा उसमें उसका अपना व्यक्तित्व विशेष रूप से परिस्फुटित होता है। उसमें उसका अपना ज्ञान है, अपना भाव है, अपना कर्म है, अपनी अनुभूति है। कविता में कवि उदात्त कल्पना के अत्युच्च शिखर पर विहार करता है। उसमें वह यथार्थ जगत् से पृथक होकर अपने भाव-जगत् में इतना लीन हो जाता है कि संसार के छोटे-बड़े सभी काम तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। कवि अपने लिए

जो माया-लोक निर्मित करता है उसमें प्रविष्ट होकर हम लोग भी आत्म-विस्मृत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें भाव की गंभीरता रहती है, अर्थ का गौरव होता है और कला का लालित्य विद्यमान रहता है। जब कविता हृदय से विनिसृत होती है तब विद्युत की अलौकिक छटा की तरह एक अलौकिक दीप्ति ला देती है। इसलिए कविता का रसोपभोग करने पर भी हम कविता की सामग्री को अपने जीवन की सामग्री नहीं बना सकते। वह मानो ताजमहल है, अपना घर नहीं। उसमें विस्मय है, गौरव है, आह्लाद है, रस है, अपूर्वता है, परंतु वह हम लोगों की अपनी वस्तु नहीं है। निबंध हम लोगों की अपनी चीज है। वह चंचल मन की एक छोटी उमंग है, एक छोटी तरंग है। जरा-सी बात लेकर मन में ऐसी कितनी ही तरंगें क्षण-क्षण उत्पन्न होती हैं और क्षण-क्षण विलीन होती हैं। पवन के स्पर्श से जैसे सरोवर चंचल हो उठता है वैसे ही वाक्य-जगत् की किसी छोटी या बड़ी-सी घटना से मन भी अस्थिर हो उठता है। उस समय भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है। हर्ष के साथ उत्साह, क्रोध के साथ ग्लानि, दुःख के साथ करुणा आदि कितने ही भाव एक के बाद एक प्रकट होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। उन्हीं सबको लेकर हम निबंधों की रचना करते हैं। मन की जैसी स्थिति होती है उसी के अनुकूल निबंधों की रचना होती है। उनमें कभी विचारशीलता रहती है और कभी सूक्ष्म विवेचना। उनमें कभी तीव्र आक्षेप होता है और कभी कठोर उपहास। उनमें कभी तर्क होता है और कभी कल्पना। उनमें कभी निदेश होता है और कभी उपदेश। पर उन सभी के भीतर लेखक का अपना व्यक्तित्व रहता है। वह स्वयं जो कुछ देखता, सुनता, सोचता और समझता है, उसी को वह अपने निबंधों में व्यक्त करता है। निबंधों में वह अपने को ही प्रकट करता है। निबंध उसकी अपनी रचना है, उसका अपना प्रयास है, उसकी अपनी चेष्टा है, उसकी अपनी वस्तु है। उनमें विचारशीलता हो अथवा भावुकता, तर्क हो या कल्पना, पर जो कुछ उनमें है वह उसके यथार्थ जगत् से ही संबंध रखता है। कल्पना के अनंत नभोमंडल में वह भले ही उड़ता रहे, पर

उसकी दृष्टि गीध की तरह पृथ्वी पर अपने ऐहिक जीवन पर ही निबद्ध रहती है। राजनीति हो अथवा समाजशास्त्र, विज्ञान हो अथवा दर्शन, साहित्य हो अथवा इतिहास, निबंध में ये सभी विषय लेखक की अपनी अनुभूति पर निर्भर हैं। सच तो यह है कि निबंधों में विषय गौण है, अनुभूति मुख्य है।

जिन भावों से प्रेरित होकर हम लोग अपने सहचरों से भिन्न-भिन्न विषयों पर स्वच्छंदतापूर्वक वार्त्तालाप करते हैं या उन्हें समझाते हैं या उन्हें अपनी छोटी-बड़ी घटनाओं का हाल सुनाते हैं, वही भाव निबंधों की रचना में भी प्रेरक होते हैं। अपने साथियों के साथ बैठकर हम अपने मन के अनुसार राजनीति और ब्रह्मज्ञान से लेकर अपने पारिवारिक जीवन की क्षुद्र बातों तक की चर्चा किया करते हैं। ठीक इसी तरह निबंधों में हम भिन्न-भिन्न विषयों की चर्चा किया करते हैं। निबंधों की रचना में भी वही कुशलता, वही निपुणता चाहिए जो वार्त्तालाप में आवश्यक है। निबंध की यही अपनी चर्चा ही उसकी अपनी मुख्य विशेषता है। वह व्याख्या नहीं है, कथा नहीं है, वह इतिहास नहीं है, वह सिर्फ एक चर्चा है। लेखक का व्यक्तित्व ही उस चर्चा को हम लोगों के लिए आकर्षक या मनोरम बना देता है। जो लोग निबंध या प्रबंध की रचना में कौशल प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें यह बात अपने-अपने मन में अवश्य रख लेनी चाहिए कि जिस प्रकार कुशल वक्ता अपनी ही बातें बतलाकर अपने श्रोताओं को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है उसी प्रकार निबंध-लेखक भी अपनी बात लिखकर अपने पाठकों के चित्त को आकृष्ट कर लेता है।

सुंदर कवि ने लिखा है "बोलिए तो तब जब बोलिए की जानि परे, न तो मुख मौन गहि चुप ह्वै रहिए।" बात बिलकुल ठीक है। न कहने योग्य कोई भी बात करना विरक्तिजनक ही होता है। जब तक मन में विशेष की स्पृहा नहीं है तब तक चुप रहना ही अच्छा है। मन की यह तीव्र आकांक्षा, यह उमंग, यह लालसा ही निबंध लिखने के लिए आवश्यक है। मन में कोई ऐसा भाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए, जिसे कहने के लिए पूर्ण उत्सुकता हो। पर कहने का भी एक ढंग होता है, एक रीति होती है,

एक शैली होती है, जिससे बात आकर्षक हो जाती है। हम सभी लोगों के मन में तरह-तरह के भाव उत्पन्न होते हैं। कभी विस्मय होता है कभी आतंक होता है, कभी हर्ष होता है, कभी दुःख होता है, कभी ग्लानि होती है और कभी पश्चात्ताप। पर अपने इन्हीं अंतर्गत भावों को दूसरे से कहने के समय हम लोग प्रायः उन्हें ठीक ढंग से स्पष्ट नहीं कर सकते। इसी से अनुकूल श्रोता पाकर भी हमारी बातें उनके लिए विरक्तिजनक हो जाती हैं। निबंध के लिए सबसे पहली आवश्यकता जैसे बात की है उसी तरह दूसरी आवश्यकता शैली की है। आवश्यक तथा अनावश्यक बातें हम लोग सभी समय करते हैं। इसी तरह आवश्यक तथा अनावश्यक बातें हम दूसरों के लिए लिखते हैं। यह सच है कि निबंध लिखने की आवश्यकता सभी को नहीं होती, पर सभी को पत्र तो लिखना ही होता है। पत्रों में हम सभी तरह की बातें लिखते हैं। इसलिए सभी यह अवश्य चाहते हैं कि जो बातें लिखें उन्हें पढ़कर दूसरे को प्रसन्नता हो। जो बात हमारे लिए अच्छी है वही हम दूसरों को सुनाना चाहते हैं और उन्हीं की मनस्तुष्टि के लिए हम लिखने का कष्ट स्वीकार करते हैं। पर कठिनता यही है कि जो बात हमारे लिए अच्छी है वह दूसरों के लिए अच्छी नहीं रहती। उन्हें अपनी ही बात अच्छी लगती है, इसलिए हमारे प्रयास विफल हो जाते हैं। अन्य लोगों को हमारी बातों से संतोष ही नहीं होता। अपनी सुख दुःख की बात किसके लिए महत्वपूर्ण नहीं है? अपने विचार, अपने विश्वास, अपने भाव किसको उचित नहीं प्रतीत होते? परंतु उनमें चाहे जितना औचित्य हो, उनका प्रभाव अन्य पर तभी पड़ता है जब वे ऐसे ढंग से व्यक्त किये जायँ कि अन्य के लिए चित्ताकर्षक हो जायँ। यही है शैली की विशेषता। इसी के कारण हम अन्य लोगों की छोटी बड़ी सभी बातों को चाव से सुनते हैं, पढ़ते हैं और ग्रहण भी करते हैं। जो सुवक्ता या सुलेखक होता है, वह अपनी ऐसी शैली की विशेषता के कारण सभी प्रकार के लोगों के लिए लोकप्रिय हो जाता है।

अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है कि रचना के लिए सबसे

मुख्य बात है निष्कपट भावों की निष्कपट अभिव्यक्ति। भाव सच्चे हों और उनकी अभिव्यक्ति भी सच्ची हो, तभी रचना में एक आकर्षण होता है। हमारे हृदय में भाव कुछ हैं और हम कहते कुछ और हैं तब उसका प्रभाव श्रोता पर पड़ नहीं सकता। कभी-कभी हम लोग अपने भावों की स्थूलता को छिपाने के लिए शब्दों का जाल बना कर गंभीरता लाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी स्थिति में भाव के साथ भाषा भी जटिल हो जाती है। उसमें विद्वत्ता का मिथ्या प्रदर्शन अवश्य हो जाता है, घड़ी भर यह भी संभव है कि वाग्जाल में पड़कर हम लोग विस्मित हो जायँ पर अंत में उसकी असारता प्रकट हो जाती है। रवींद्र बाबू की 'जय-पराजय' शीर्षक एक कथा में पुंडरीक नामक कवि ने केवल शब्दों का जाल रचकर शेखर पर विजय प्राप्त कर ली। साहित्य के क्षेत्र में कुछ समय के लिए शब्दों का यह जाल बनाने की निपुणता पाठकों के हृदय पर इतना प्रभाव डालती है कि वे लोग उसी को कला का नैपुण्य समझने लगते हैं। यह जाल स्थायी नहीं होता। कभी न कभी यह छिन्न-भिन्न हो ही जाता है। नवीनता और अपूर्वता का मोह क्षणिक होता है।

निबंध-कला की बात तो मैंने लिख दी। पर अभी तो मुझे दो निबंध लिखने होंगे। कैसे लिखूँ ?

मुझे अमीर खुसरो की एक कहानी याद आयी। एक बार प्यास लगने पर वे एक कुएँ के पास पहुँचे। वहाँ चार औरतें पानी भर रही थीं। पानी माँगने पर पहिले उनमें से एक ने खीर पर कविता सुनने की इच्छा प्रकट की, दूसरी ने चर्खे पर, तीसरी ने कुत्ते पर और चौथी ने ढोल पर। अमीर खुसरो प्रतिभावान थे, उन्होंने एक ही पद्य में चारों की इच्छाओं की पूर्ति कर दी। उन्होंने कहा—

खीर पकाई जतन से, चर्खा दिया चला।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजा॥

मुझमें खुसरो की प्रतिभा नहीं है, पर उनकी इस पद्धति को स्वीकार

करने से मेरी कठिनाई आधी रह जाती है। मैं भी एक ही निबंध में इन दोनों विषयों का समावेश कर दूँगा,एक ही ढेले से दो चिड़ियाँ मार लूँगा।

दूर के ढोल सुहावने होते हैं, क्योंकि उनकी कर्कशता दूर तक नहीं पहुँचती। जव ढोल के पास बैठे हुए लोगों के कान के पर्दे फटते रहते हैं, तव दूर किसी नदी के तट पर, संध्या समय, किसी दूसरे के कान में वही शब्द मधुरता का संचार कर देते हैं। ढोल के उन्हीं शब्दों को सुनकर वह अपने हृदय में किसी के विवाहोत्सव का चित्र अंकित कर लेता है। कोलाहल से पूर्ण घर के एक कोने में लज्जाशीला नववधू की कल्पना वह अपने मन में कर लेता है। उस नववधू के प्रेम, उल्लास. संकोच, आशंका और विषाद से युक्त हृदय के कंपन, ढोल की उस कर्कश ध्वनि को मधुर वना देते हैं। सच तो यह है कि ढोल की मधुर ध्वनि के साथ आनंद का कल-रव, उत्साह का प्रमोद और प्रेम का संगीत ये तीनों मिले रहते हैं। तभी उनकी कर्कशता समीपस्थ लोगों को भी कटु नहीं प्रतीत होती और दूरस्थ लोगों के लिए तो वह अत्यंत मधुर बन जाती है।

यह बात सच है कि दूर रहने से हमें यथार्थता की कठोरता का अनुभव नही होता। यह कारण है जो तरुण संसार के जीवन-संग्रह से दूर हैं, उन्हें संसार का चित्र बड़ा ही मनमोहक प्रतीत होता है। प्रेम की वेदना ही उनके लिए वेदना है। प्रियतमा की निष्ठुरता ही उनके लिए निष्ठुरता है। प्रेम का व्यवसाय ही उनका एक व्यवसाय है। प्रेम ही उनके लिए आटा-दाल है और प्रेम ही उनका सर्वस्व है। वे प्रियतम की गोद में रोग की मंत्रणा भूल जाते हैं। प्रियतमाएँ भी संध्या के समय प्रियतम के अंक में मृत्यु का अनुभव करने के लिए लंबी यात्रा का कष्ट सह लेती हैं। तरुणों के लिए रोग और मृत्यु दोनों सुखद हैं, क्योंकि दोनों में प्रेम की मधुरता है। संसार में प्रविष्ट होते ही प्रेम का यह कल्पित संसार न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। उन्हें संसार की यथार्थता का ज्ञान होता है, तब उन्हें जीवन की कटुता का अनुभव होता है और तभी उन्हे ढोल की कर्कशता मालूम होती है।

जो वृद्ध हो गये हैं, जो अपनी बाल्यावस्था और तरुणावस्था से दूर हट आये हैं, उन्हें अपने अतीत-काल की स्मृति बड़ी सुखद मालूम होती है। वे अतीत का ही स्वप्न देखते हैं। तरुणों के लिए जैसे भविष्य उज्ज्वल होता है वैसे ही वृद्धों के लिए अतीत। वर्तमान से दोनों को असंतोष होता है। तरुण भविष्य को वर्तमान में लाना चाहते हैं और वृद्ध अतीत को खींचकर वर्तमान में देखना चाहते हैं। तरुण क्रांति के समर्थक होते हैं और वृद्ध अतीत गौरव के संरक्षक। इन्हीं दोनों के कारण वर्तमान सदैव क्षुब्ध रहता है; और इसी से वर्तमान काल सदैव सुधारों का काल बना रहता है।

मनुष्य जाति के इतिहास में कोई ऐसा काम ही नहीं हुआ जब सुधारों की आवश्यकता न हुई हो। तभी तो आज तक कितने ही सुधारक हो गये हैं। पर सुधारों का अंत कब हुआ है? भारत के इतिहास में बुद्धदेव, महावीर स्वामी, नागार्जुन, शंकराचार्य, कबीर, नानक, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी में ही सुधारकों की गणना समाप्त नहीं होती। सुधारकों का दल नगर-नगर और गाँव-गाँव में होता है। यह सच है कि जीवन में नये-नये दोष उत्पन्न होते जाते हैं और नये-नये सुधार होते जाते हैं। न दोषों का अंत है और न सुधारों का। जो कभी सुधार थे वही आज दोष हो गये हैं और उन सुधारों का नव सुधार किया जाता है। तभी तो यह जीवन प्रगतिशील माना जाता है।

हिंदी में भी प्रगतिशील साहित्य का निर्माण रहा है। उसके निर्माता यह समझ रहे हैं कि उनके साहित्य में भविष्य का गौरव निहित है। पर कुछ ही समय के बाद उनका यह साहित्य भी अतीत का स्मारक हो जायगा और आज जो तरुण हैं वही वृद्ध होकर अतीत के गौरव का स्वप्न देखेंगे। उनके स्थान में फिर तरुणों का दूसरा दल आ जायगा जो भविष्य का स्वप्न देखेगा। दोनों के ही स्वप्न सुखद होते हैं, क्योंकि दूर के ढोल सुहावने होते हैं।

डुकरिया पुराण

[हमारे लोक-विश्वास]

गुलाबराय

यद्यपि अठारह पुराणों की प्रशस्त नामावली में डुकरिया पुराण का नाम खोजना अनुसंधानकर्त्ता के प्रयास को विफल कर देगा तथापि भगवान् अनंगदेव की भाँति मसि-कागद के कलुष से अछूते उसके वायवी अस्तित्व को प्रत्येक विचारशील मनुष्य स्वीकार करेगा। आजकल के पश्चिमी बुद्धिवाद का प्रखर तेजवाला शिव-नेत्र भी उसे नितांत भस्म करने में असमर्थ रहा है। वह भगवान् विष्णु की भाँति अपने को अच्युत कह सकता है।

धर्मशास्त्र हमारे जीवन को शासित करे या न करे; किंतु डुकरिया पुराण अपने अलिखित रूप में हमारे जीवन को प्रभावित करता रहता है। अन्य कर्मकांडी शास्त्रों की यदि मान्यता बची हुई है तो इसी के बल पर। आपाद-मस्तक पश्चिमी सभ्यता में सराबोर सूट-बूटधारी भारतीय छींक के होते ही खतरे की घंटी की भाँति उससे ठिठक-सा जाता है और कभी-कभी यदि उसमें प्राचीन संस्कार जोर मार जाते हैं तो वह विघ्नेश्वर के पाद-पंकजों का स्मरण करते हुए मन ही मन 'वक्रतुण्ड महाकाय कोटि सूर्यसमप्रभः' कह अपनी यात्रा को मंगलमय बनाता है। बिल्ली के रास्ता काटते ही हमारी यात्रा का उत्साह भंग हो जाता है, चाहे हम अपने बुद्धि-वाद का गर्व बनाये रखने के लिए घर न लौटें। मैंने कुछ महानुभावों को बिल्ली के रास्ता काटने को बचाने के लिए उससे कुछ आगे दौड़ने का प्रयत्न करते देखा है। हथेली खुजलाते ही रुपये आने की प्रतीक्षा होने लगती है, चाहे पीछे हाथ ही क्यों न मलना पड़े।

भारतीय अंधविश्वासों की खिल्ली उड़ाने वाले और घोर बुद्धिवाद की दुहाई देनेवाले अंग्रेज और अन्य यूरोप-निवासी खाने की मेज पर तेरह आदमियों की संख्या होते ही चौदहवें की खोज करने लग जाते हैं। वे अवांछित मनुष्य का भी स्वागत करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। कोई यात्री होटल के तेरह नंबर के कमरे में ठहरना तो क्या असवाब रखना भी पसंद नहीं करता। बेचारे होटल वाले भी एक कमरे के अस्तित्व को व्यर्थता के दुर्भाग्य से बचाने के अर्थ १२ एके नाम से अभिहित करने लगते हैं। मेज पर यदि नमक फैल जाय तो वे उसको अशुभ समझ कर गिराने वाले की अवांछनीयता को लक्ष्य करके एक-दूसरे की ओर झाँकने लगते हैं। उसका परिहार कंधे के ऊपर पीछे जो नमक फेंकने से किया जाता है। बुद्धिवाद की दृष्टि से तो और अधिक मात्रा में नमक फेंकना मूर्खता की पराकाष्ठा है, किन्तु ये लोक-विश्वास, जो अंग्रेजी में Superstitions हैं, बुद्धि के ऊपर (Super) खड़े होते हैं। यही Superstitions का शाब्दिक अर्थ है।

डुकरिया पुराण के इस अमिट अधिकार का क्या रहस्य है ? रहस्य तो अवश्य है. क्योंकि बिना कारण से कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं आती, किंतु बुद्धिवाद के कण को मन भर तो सहज बना लिया जाता है और फिर परंपरा का बल और प्राचीनता की स्वर्णिम आभा प्राप्त कर वह तिल का ताड़ और राई का पर्वत अवश्य बन जाता है। और कहीं आर्थिक हानि या जीवन की आशंका का संकेत मात्र भी हो गया तो हमारी आत्मरक्षा की सहज वृत्ति हमारे कार्यों में ब्रेक लगाने लगती है। अन्य कारणों का उल्लेख करने से पूर्व हम इन्हीं बातों की व्याख्या कर देना चाहते हैं।

छींक की बाधा बड़ी व्यापक और पुरानी है। बंगला में छींक को हाँची कहते हैं। यह शब्द भी अनुकृतिमूलक है। इस संबंध में एक कहावत है, "हाँची टिकटिकी बाधा, जे न माने से गाधा।" छींक के संबंध में मैंने किसी मनोविज्ञान की पुस्तक में पढ़ा था कि वह शरीर के श्वास निकलने का प्रतीक है। इसलिए अशुभ मानते हैं। उसकी अशुभता निवारण

क लिए लोग प्रभू का स्मरण करते हुए कहते हैं "छत्रपती ! घटे पाप, बढ़ै रती।"

तेरह की संख्या अपने यहाँ अशुभ तो मानी ही जाती है क्योंकि तेरह का संबंध मृतक की तेरहवीं से है (कुछ संयोग ऐसे आ जाते हैं कि तेरह की संख्या हर एक क्षेत्र में अशुभ प्रमाणित होती है। पाकिस्तान के वजीर आजिम जनाव हसन सुहरावर्दी की काबीना (Cabinate) में तेरह मंत्री थे। इसी के परिणामस्वरूप उनको अपने उच्च पद से हाथ धोना पड़ा।) अपने यहाँ तीन की संख्या विषमता की प्रतीक होने के कारण अशुभ मानी जाती है। शिवजी का तीसरा नेत्र भी प्रलयंकर है। तीन रोटियाँ या पूड़ियाँ एक साथ नहीं परसी जातीं। तीन रोटियाँ यदि परसनी हो तो एक के दो टुकड़े कर दिये जाते हैं। सम संख्या में विशेष कर चार की संख्या में पूर्णता, एकसापन और संतुलन का भाव आ जाता है। वैसे पाँच और सात पवित्र माने जाते हैं, कहीं-कहीं तीन भी पवित्र माना जाता है; जैसे आचमन तीन ही बार किया जाता है।

अंग्रेजी में तेरह की संख्या अनिष्टकारिणी इसीलिए मानी जाती है कि प्रभू ईसा मसीह शूली लगने के पूर्व अपने बारह शिष्यों के साथ एक मेज पर खाने बैठे थे। वे तो पकड़ ही लिये गये थे और निर्दोष होते हुए भी शूली पर चढ़ा दिये गये थे किंतु जिस शिष्य ने उनको पकड़वाया था उसने भी ग्लानिवश आत्महत्या कर ली थी—दुहरा खून ! फिर आदमी क्यों न सचेत हो ? अंग्रेजों में लकड़ी छू लेना शुभ और अनिष्ट-निवारक समझा जाता है। क्योंकि प्रभू ईसा मसीह की शूली लकड़ी की थी। नमक का गिरना शायद इस कारण अशुभ माना जाता है कि नमक वहाँ जीवन के रस या आनद का प्रतीक समझा जाता है। अपने यहाँ भी नमक को रामरस कहते हैं। नमक के बिना सब चीज फीकी पड़ जाती है। उसका गिरना जीवन के रस के नष्ट होने का चिह्न माना जाता है।

अपने यहाँ भी पंचकों में मरना अशुभ माना जाता है। इसमें किसी का क़ोई वश नहीं, और यात्राएँ तो सायत देखकर की जा सकती हैं किंतु

परलोक की यात्रा सायत देख कर नहीं की जाती। भीष्म पितामह की दूसरी बात है कि वे सूर्यदेव में उत्तरायण होने तक शरीर धारण किये रहे। पंचकों में मरने के संबंध में यह विश्वास है कि यदि कोई इन नक्षत्रों में मरे तो घर में पाँच आदमियों के मरने की और संभावना रहती है। इसके परिहार के लिए कुशों के पाँच पुतले बनाकर रख दिये जाते हैं किंतु कभी-कभी इससे भी अनिष्ट का शमन नहीं होता है। मैं इस विश्वास को दृढ़ नहीं करना चाहता हूँ। किंतु जब मेरे ज्येष्ठ पुत्र की बहू का स्वर्गवास पंचकों में हुआ था तो इन सब शास्त्रीय और अशास्त्रीय परिहारों के कर देने पर भी उसकी लड़की और एक गाय के बछड़े और वृद्धा सत्तर वर्ष की बूआ तथा एक कोई अन्य सहित पाँच व्यक्ति नहीं रहे थे। इस विश्वास में कुछ तो नाम का प्रभाव होता है। पंचक में पाँच की संख्या आती है। नामों पर बहुत से अंधविश्वास अवलंबित होते हैं। मोतीझले में अनविधे मोती खिलाये जाते हैं। वे तो शायद हजम भी नहीं होते हैं। (मोती की भस्म तो शायद केल्शियमप्रधान होने के कारण लाभदायक होती हो) आँखों के रोहुओं के लिए बच्चों के गले में रोहू के दाँत डाले जाते हैं। इसके अतिरिक्त और भी प्रवृत्तियाँ जो लोक-विश्वासों में काम करती हैं, उनमें से कुछ का विवरण यहाँ दिया जाता है।

१. दूषित सामान्यीकरण की प्रवृत्ति

जैसे बिल्ली के रास्ता काटने में दो-एक-बार अनिष्ट हुआ हो, उसको एक सामान्य नियम बना लिया गया। ऐसे उदाहरणों पर हमारा ध्यान कम जाता है जब बिल्ली के रास्ता काटने पर भी अनिष्ट न हुआ हो। प्रभू ईसा मसीह के बारह शिष्यों के साथ भोजन करने का एक ऐतिहासिक उदाहरण है। उसका सामान्यीकरण कर उसे व्यापक बना लिया गया है और तेरह की संख्या ही अशुभ मान ली गई है। बहुत से ईसाई लोग शुक्रवार को नया काम आरंभ नहीं करते। शुक्रवार को ईसा मसीह की मृत्यु हुई थी। गांधीजी की भी मृत्यु शुक्र को ही हुई थी। मैं एक महानुभाव को जानता था, जो किसी नये आदमी से शुक्रवार को नहीं मिलते थे। शनिवार

तो शायद अशुभ माना जाता है कि उसकी गति मंद होती है। वह साढ़े-सात वर्ष में सूर्य का चक्कर लगा पाता है। उसका रंग भी काला होता है। मनुष्य के जीवन में सामान्यीकरण का विशेष महत्त्व है। सारे वैज्ञानिक नियम ही सामान्यीकरण पर निर्भर होते हैं और वह सामान्यीकरण सब उदाहरणों की गणना पर नहीं होता। गणना मात्र का सामान्यीकरण निरर्थक और बालचापल्य माना जाता है। किंतु वैज्ञानिक सामान्यीकरण विश्लेषण और प्रयोग पर निर्भर होता है। एक बार भगवान् कृष्ण को चौथ का चंद्रमा देखने के कारण स्यमंतक मणि की चोरी का मिथ्या कलंक लगा था। इसकी कथा इस प्रकार है—एक बार ब्रह्माजी ने गणेश चतुर्थी का व्रत रखा था। चंद्रमा ब्रह्माजी की चतुर्मुखी विकृत आकृति पर हँसा था। ब्रह्माजी का कोपभाजन बनकर उसको शाप लगा था कि जो कोई चंद्रमा को देखे वह कलंकी हो। किंतु बहुत अनुनय-विनय करने पर वह शाप गणेश चतुर्थी के लिए सीमित हो गया था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसका उल्लेख किया है "तौ पर नारि लिलार गुसाईं। तजिय चौथ चंदा की नाईं।" श्रीमद्भागवत (१०।५६) में स्यमंतक मणि की चोरी की कथा है। एक कारण यह भी संभव हो सकता है कि चौथा चंद्रमा अनिष्टकर होता है, इसलिए चौथ का चंद्रमा भी अनिष्टकर समझा जाने लगा। इसके दोष के परिहार के लिए दूसरों के घर में पत्थर फेंककर गालियों का आह्वान करते हैं। भगवान् कृष्ण ने तो अपना कलंक पुरुषार्थ द्वारा मिटाया और उनको उसका फल भी अच्छा मिला। मैं तो स्वयं जान-बूझकर चौथ के चंद्रमा के दर्शन कर लेता हूँ। झूठा कलंक लगने से मैं सच्चे कलंक लगने से बचा रहूँगा। मैंने बहुत से धर्म-ढोंगी भ्रष्टाचरण वाले पुरुषों को गणेश चौथ के दिन सायंकाल से कमरे में बंद होते देखा है। मैंने उनमें से एक से कहा, "भाई, ऐसे आप निष्कलंक नहीं जो झूठे कलंक से भयभीत हों।" कलंक की चर्चा होने से तो पाप घटता है। बौद्धों और रोमन कैथोलिकों में तो अपने अपराधों की आत्म-स्वीकृति का एक पर्व होता है।

२. नाम का संबंध

नाम के संबंध में हम रोहू मछली के दाँतों का उदाहरण दे चुके हैं। स्त्रियों में जो बुध की यात्रा का निषेध रहता है, उसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। यदि है तो बुध के साथ विछोह के अनुप्रास का है। इसका परिहार भी बुद्धशुद्ध कहकर अनुप्रास के आधार पर कर लिया जाता है। नाम और नामी के संबंध के ही आधार पर रात में साँप का नाम नहीं लेते हैं। प्रायः लोग उसे 'कीड़ा' कहते हैं। बंगला में 'लता' कहते हैं। ऐसा विश्वास है कि जहाँ साँपों की चर्चा होती है वहाँ साँप रहते हैं। इसी विश्वास का सहारा लेकर गुप्तजी ने साकेत में श्री रामचंद्र से कहलाया है—

> चर्चा भी अच्छी नहीं बुरों की मानो।
> साँपों की बातें जहाँ वहीं वे जानो॥
>
> (साकेत, पृष्ठ १६८)

नाम के आधार पर ही नीलकंठ का दर्शन शुभ माना जाता है। विष-पान करने से शिवजी नीलकंठ कहलाये। शायद इसी वर्ण-साम्य के कारण नीलकंठ का दर्शन शुभ माना जाता है। चावलों को अक्षत कहते हैं। अक्षत शब्द शुभ है। अक्षतों का प्रयोग प्रत्येक शुभ कार्य में होता है। आम्र की भी पवित्रता उसके लाल होने के कारण मानी जाती है।

३. अशुभ अवसरों पर होने वाले कार्यों को करना

जो काम मृत्यु, शवदाह आदि के समय किये जाते हैं उनको साधारण अवसरों पर इसीलिए नहीं करते कि वे अमंगलसूचक हैं और कहीं अमंगल के अनुगामी के स्थान में उनके अग्रगामी न बन जायँ। जिन लोगों के पिता जीवित होते हैं वे सिर पर सफेद कपड़ा नहीं बाँधते हैं और न सिर और मूँछ मुड़ाते हैं। ये कार्य पिता की मृत्यु पर ही होते हैं। अब मूँछें मुड़ाना नित्य का कर्म हो गया है और अब उनकी शान-बान और ऐंठ-अकड़ भी जाती रही। अब वे पहले तो तितली बनीं और पीछे से उड़ गईं। अब तो वे न

ऊँची और न नीची। शायद इसी कारण कोरा कपड़ा भी नहीं पहना जाता है किंतु इसका एक वैज्ञानिक कारण भी है। कपड़े के विना धुले बजाज और दर्जी की दूकान की गंदगी नहीं जाती। यह नियम ऊनी कपड़े के साथ नहीं है। कनागतों में पितृपक्ष से संबंध होने के कारण विवाह-शादियों और किसी अन्य शुभ कार्य की जैसे गृहप्रवेशादि की वात नहीं चलती। कनागत का शुद्ध शब्द है कन्यागत अर्थात् सूर्य जव कन्याराशि में आता है तब कनागत लगता है। हमारे यहाँ मुहर्रमी के लिए कन्याराशि शब्द है। कनागतों में हजामत नहीं बनवाते हैं और न कपड़े बदलते हैं। यह शायद ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए हो। सधवा स्त्रियाँ हाथ की चूड़ी और पैर के बिछवे नहीं उतारतीं और सिंदूर बिंदू की भी रक्षा करती हैं, क्योंकि इनका अभाव वैधव्य का सूचक है। चूड़ियाँ चाहे बंधन की द्योतक हों किंतु यह प्रणय बंधन बड़ा मधुर और स्पृहणीय समझा जाता है। मेहमान के आगमन पर पहले दिन उसे उड़द की दाल नहीं खिलाते, क्योंकि शोक के दिन पहले उड़द की दाल ही खायी जाती है। मेहमान या प्रियजन के जाते ही तुरंत घर में झाड़ू नहीं दी जाती है, क्योंकि प्रायः मृतक के उठ जाने पर घर की सफाई होती है। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि हम अपने मन में इस व्यञ्जना को स्थान नहीं देना चाहते हैं कि उनके रहने से घर गंदा था और उनके जाते ही घर की सफाई की आवश्यकता है।

साधारण बोल-चाल में अशुभ व्यञ्जना वाले शब्द को बचाया जाता है। दूकान बंद करने के स्थान में उसे बढ़ाना कहते हैं। दीपक कुल के दीपक पुत्र का द्योतक है। इसलिए उसको बुझाना नहीं कहते हैं, उसको भी बढ़ाया जाता है। चूड़ियाँ भी सौभाग्य-सूचक होने के कारण उतारी नहीं जातीं, बढ़ायी जाती हैं। अमंगल का नाम लेना अमंगलकारी होता है।

(४) शुभ अवसरों पर होने वाले कार्यों के विपरीत न करना :

जैसे जिस रोज कड़ाही चढ़ती है उस रोज तवा नहीं चढ़ता। जन्म-दिवस, होली, दीवाली, दशहरा आदि पर्व-दिवसों पर चाहे दाल-चावल बन जाय, रोटी नहीं बनती। हिंदू धर्म इतनी आवश्यकतानुकूलता रखता

है कि यदि पर्व-दिन को रोटी बनाना ही हो तो कड़ाही में बना लेते हैं। आवश्यकता भी पूर्ण हो जाती है और लकीर की फकीरी का भी निर्वाह हो जाता है। सधवा स्त्रियाँ पर्व-दिवसों पर सादी धोती नहीं पहनती हैं। त्यौहार के दिन लकड़ी भी नहीं खरीदी जाती, शायद, इसलिए कि उनका अंतिम संस्कार में काम पड़ता है।

(५) देखने में अशोभन या असुंदर वस्तु या बात बचायी जाती है :

जैसे जूते पर जूता रखा होना। जूता थोड़े में भी शोभा देता है। उलटी झाड़ू या चारपाई रखना अच्छा नहीं लगता। संध्या समय का खाना दीपक जलने पर ही खाना। प्रकाश का भोजन के साथ कोई वैज्ञानिक संबंध हो सकता है। प्रकाश का वस्तुओं की वृद्धि और पोषण पर असर पड़ता है। इसलिए ग्रहण के समय खाना पीना वर्जित हो जाता है। लोक-विश्वासों के पीछे उनको दृढता देने के लिए दंत-कथाएँ भी प्रचलित हो जाती हैं। शाम को पढ़ना भी वर्जित है। शायद इसलिए कि उससे नेत्रों की ज्योति को हानि पहुँचती है। रात में अदवाइन नहीं लगाते। तथाकथित कारण तो यह होता है कि इससे लड़कियाँ अधिक होती हैं। किंतु रात को अदवाइन लगाना आग लगे पर कुंआ खोदने का प्रतीक है और पुरुषार्थहीनता का द्योतक है। जो काम करणीय है उसको अंत समय तक न टालना चाहिए। रात में फाँस लगने का भी भय रहता है।

(६) प्रतीक :

बहुत-सी बातों का महत्त्व प्रतीकात्मक होता है; जैसे, भरे घड़े शुभ माने जाते हैं। वे पूर्णता और समृद्धि के प्रतीक होते हैं। इसीलिए शुभ अवसरों पर कलश की स्थापना होती है। दूर्वा भी वृद्धि का प्रतीक होने के कारण मंगल की सूचक होती है। इसके लिए कहा जाता है, 'कांडे-कांडे प्ररोहति।' भगवान् की श्यामता की भी उससे उपमा दी जाती है—दूर्वा-दल श्याम। पुत्र-जन्म की सूचना प्रायः दूब भेजकर ही दी जाती है। यात्रा के समय दधि और मिष्ठान्न खाते हैं, खटाई नहीं, इसीलिए कि शायद खट्टा खाने का मुहावरा सार्थक न हो जाय।

शकुन और अपशकुन :

ये भी डुकरिया पुराण के प्रमुख अंग हैं। शुभ शकुन एक नया उत्साह पैदा कर देते हैं। कुछ वस्तुएँ; जैसे गाय और बछड़ा विशेषकर दूध पीता हुआ बछड़ा शकुन माना जाता है। गाय अपने यहाँ पवित्र मानी गयी है और समृद्धि की भी प्रतीक है। भरा घड़ा भी पूर्णता और सफलता का प्रतीक है। स्त्रियाँ कौवे के उड़ जाने को मेहमान के आने का शकुन मानती हैं। प्रोषितपतिकाओं में काक का विशेष मान है। एक प्रोषित पतिका कहती है :—

पैंजनी गढ़ाइ चोंच सोने में मढ़ाइ देहौं,
कर पर लाइ पर रुचि सों सुधारिहौं
× × ×
एरे कारे काग तेरे सगुन संयोग आज
मेरे पति आवें तो बचन तै न टरिहौं।
—तोष

पुरुष के दाहिने अंग का फड़कना शुभ मानते हैं और स्त्री के वामांग का। रामचरितमानस में श्री रामचंद्रजी के लंका से प्रत्यागमन के अवसर पर भायप भक्ति की मूर्ति तपस्वी भरतजी के दाहिने अंग बाहु और नेत्र फड़कते हुए दिखाये गये—

भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति, लागे करन विचार॥

इन अंगों के फड़कने की पूर्ण व्याख्या शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) भी नहीं कर सका है। वह 'कैसे ?' की ही व्याख्या करता है, 'क्यों ?' की नहीं। कुछ फालतू स्नायु-शक्ति सीधे रास्ते न जाकर अन्य स्नायु-केन्द्रों की ओर झुक जाती है और उनमें स्फुरण पैदा कर देती है। वह शक्ति अपने पथ से क्यों विचलित हो जाती है, इसका कोई कारण नहीं दिया जाता है। जिन बातों का कोई वैज्ञानिक कारण नहीं दिया जा सकता उनको प्राय: दैवी मान लिया जाता है।

एक आगमिष्यतपतिका वाम बाहु को महत्त्व देती हुई कहती है—

बाम बाहु फरकत मिलैं, जो हरि जीवन मूरि।
तो तोही सों भेंटिहों, राखि दाहिनी दूरि॥

कुछ जानवर शुभ माने जाते हैं और कुछ अशुभ। तुलसीदासजी ने नेवला, मछली, शीशा, सफेद चील, चकवा और नीलकंठ का दर्शन शुभ माना है—

नकुलु सुदर्शन दर्सनी, छेमकरी, चक, चाप।
दस दिसि देखत सगुन सुभ, पूजहिं मन अभिलाष॥

नकुल सर्प का भक्षक होने के कारण, मछली प्रेम का प्रतीक होने के कारण, शीशा अपना ही मुख दिखाने के कारण, छेमकरी अपने सफेद रंग के कारण, चकवा प्रातःकाल और आशा का प्रतीक होने के कारण, नीलकंठ (चाष) शिवजी के सादृश्य के कारण शायद शुभ माना जाता हो। छेमकरी का उल्लेख रामचंद्रजी की बरात के प्रस्थान के समय भी हुआ है। उस समय और भी शुभ शकुन दिखाये गये हैं—

छेमकरी कह छेम बिसेखी, स्यामा बाम सुतरु पर देखी।
सन्मुख आयउ दधि अरु मीना, कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रवीना॥

अपशकुनों का साहित्य में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। कमल लाने के अर्थ श्यामसुंदर के कालीदह में कूदने पर नंद और यशोदा को अपकुशन दिखायी दिये थे। यह स्नेहाधिक्य के कारण बढ़ी हुई शंका का फल था और यह शंका नितांत अकारण भी नहीं थी।

देखे नंद चले घर आवत।
पैठत पौरि छींक भई बाए,
दहिनैं धाह सुनावत।
फरकत स्रवन स्वान द्वारे पर,
गगरी करति लराई।

माथे पर ह्वै काग उड़ान्यौ,
कुसगुन बहुतक पाई।
आये नंद घरहिं मन मारे,
व्याकुल देखी नारि।
नंद घरनि सौं पूछत बात।
बदन झुराइ गयौ क्यों तेरा,
कहाँ गये बल, मोहन तात?
भीतर चली रसोई कारन,
छींक परी तब आँगन आइ।
पुनि आगे ह्वै भई मँजारी,
और बहुत कुसगुन मैं पाइ॥

यह लोक-विश्वास सूर और तुलसी के समय में भी थे और बहुत प्राचीन काल से चले आते हैं। इनमें से बहुत से अपशकुन स्वयं भी अपनी भयंकरता के कारण अशुभ सूचना के द्योतक होते हैं। जैसे, श्वान का रोना आदि।

डुकरिया पुराण की सभी बातें बुद्धिवाद के विरुद्ध नहीं हैं। कुछ का कारण हम नहीं जानते, उनके कारण की खोज करनी चाहिए। कारण की खोज चाहे हम न कर सकें किंतु जातीय मनोवृत्तियों और परंपराओं के अध्ययन के ये अच्छे साधन हैं। दो-चार उदाहरणों को सत्य होते देखकर इनको सत्य और वैज्ञानिक मान लेना भी ठीक नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने बहराइच के मियाँ साहब की जात के विरुद्ध दूषित सामान्यीकरण से बचने के प्रत्यक्ष अनुभव की अपील की है—

लही आँख कब आँधरे
बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही?
जग बहराइच जाय॥

हमको यह परीक्षाबुद्धि व्यापक बनानी चाहिए। लोक-विश्वासों के कारण खोजने चाहिए और केवल जन-श्रुति पर निर्भर न रहकर परीक्षा करना चाहिए।

ऐसे बिरले ही होते हैं जो लोक-विश्वासों की अवहेलना कर अपनी मौत को भी खतरे में डालते हैं। कबीरदास काशी में रहते थे किंतु मरने के लिए मगहर गये। वहाँ के लिए यह विश्वास है कि वहाँ मरने वाला नरक में जाता है। वहाँ कर्मनासा नदी भी है जिसके कारण सब शुभ कर्मों का नाश हो जाता है। तुलसीदासजी इस बात में विश्वास करते थे किंतु कबीर ने बड़े साहस के साथ कहा—

मगहर मरे तो गदहा होई,
भल परतीत राम सों खोई।
क्या कासी क्या ऊसर मगहर,
राम हृदय बस मोरा।
जो कासी तन तजै कबीरा,
रामै कौन निहोरा॥

हमको अपने मन-कपाट खुले रखकर परीक्षाबुद्धि से काम लेना चाहिए। तुलसी और कबीर के उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि वे लोग भी बुद्धिवाद के नितांत विरुद्ध नहीं थे। हम तो बुद्धि से काम लेते हैं। इन लोक-विश्वासों को केवल कुपढ़ों की कपोल-कल्पना कहकर उड़ा देना ठीक नहीं। इनको मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाकर अन्य प्रांतों के भी लोक-विश्वासों की जानकारी प्राप्त करना वांछनीय होगा। इससे भारत की सांस्कृतिक एकता पर प्रकाश पड़ेगा।

['प्राची', ८ नवंबर, १९५४]

●

ये सुइयाँ

भदंत आनंद कौशल्यायन

ज्योंही मैंने इन छोटी-बड़ी सुइयों (इंजेक्शनों) की चर्चा करने के लिए कलम हाथ में ली है त्योंही न जाने क्यों बचपन में सुने गीत की एक पंक्ति याद आ गयी—

'छोटी बड़ी सुइयाँ रे, जाली का मोरा कातना' मैंने कातना ही सुना है। और जब मैं इस गीत के अर्थ पर विचार करता हूँ तो एकदम निरर्थक लगता है। सुइयाँ सीने के काम आती हैं या उनसे जाली बुनी जाती है ? तो इन सुइयों और जाली कातने का क्या मेल ? एकदम बेमेल ! अब भी यह याद है कि एक समय यह गीत शोहदा स्वभाव तरुणों की जबान पर चढ़ा हुआ था। ऐसा लगता है कि किसी भी चीज के प्रचारित होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उपयोगी हो, सार्थक हो। निरर्थक और निश्चयात्मक रूप से हानिकर चीजें भी प्रोपेगेंडा और विज्ञापन के पंख लगाकर कहाँ-से कहाँ जा पहुँचती हैं।

हाँ, तो मैं गीत की उन छोटी-मोटी सुइयों की बात नहीं, इन वास्तविक छोटी मोटी सुइयों की बात कहने जा रहा हूँ, जो किसी ग़रीब अथवा अमीर का कपड़ा नहीं सीतीं, किंतु गरीब-अमीर सभी के बदन को बींधती हैं।

इन सुइयों के बारे में मेरा क्या मत है अथवा हो सकता है, उसे जानने-समझने के लिए आपको चंद पक्तियाँ पढ़ने का कष्ट करना ही होगा –

सन् १९३७ में मैं चटगाँव में था। सोचा था कि वर्षा बाद अथवा

चातुर्मास के तीन-चार महीने वहीं व्यतीत करूँगा। चटगाँव में प्रवेश करते ही मुझे मलेरिया ने पकड़ लिया। चटगाँव (पाकिस्तान निर्माण से पहले का चटगाँव) भारत का एकमात्र बौद्ध-भूखंड है, जहाँ आज भी परंपरागत बौद्ध धर्म विद्यमान है। मैं वहाँ का आदृत अतिथि था। जिस किसी गाँव में पहुँचने पर भी ज्वराक्रांत होता, उसी में देखता कि गाँव के आधे लोग मलेरिया-ग्रस्त हैं और शेष आधे वैद्य-डॉक्टर। दवाइयों की कमी न थी। त्रिफला तो मैं रोज ही पीता था। होमियोपैथ डॉक्टरों की पुड़ियाँ और एलोपैथ डॉक्टरों की कुनीन की गोलियाँ और मिक्सचर बदल-बदल कर चलते थे। खाने-पीने में अपनी ओर से बहुतेरा संयम करता था, किंतु जब नित्य नया आतिथ्य होता हो तो कोई क्या संयम करेगा ? देवियाँ कई-कई मील से चलकर आतीं और उनका आग्रह होता कि जो विशेष पदार्थ वे लायी हैं, उसमें से मैं अल्पमात्र अवश्य लूँ। बहुधा बचा जाता। कभी-कभी लेना ही पड़ता। अच्छा-खासा क्रम बन गया था, जिससे हर तीसरे-चौथे दिन आने वाला मलेरिया व्यतिक्रम न होने देता।

इधर बारह-तेरह वर्षों में 'सुइयों' ने और जोर पकड़ा है। अब तो जैसे हर बिमारी की गोलियाँ मिलती हैं, वैसे ही हर बीमारी में सुइयाँ भी। उस समय इसमें कुछ कमी रही होगी नहीं तो क्या कारण था कि लगभग तीन महीने तक डॉक्टरों की दवाइयाँ खाते रहने पर भी किसी डॉक्टर ने कोई सुई न घोंपी। आखिर एक दिन उसकी भी बारी आ ही गयी। एक डॉक्टर ने कुनीन का इंजेक्शन कंधे के नीचे, पीठ में दे ही दिया। बुखार तो नहीं रुका, पीठ सूज गयी। किसी भी करवट न लेट सकता था। जीवन में जो दो-चार बार नरक की-सी यातना भुगतनी पड़ी है, कुनीन के इस इंजेक्शन का लेना उनमें से एक अवसर है। मैंने तय किया कि चाहे जो हो, अब मैं किसी देहात में न रहूँगा। जैसे भी होगा चटगाँव शहर के अस्पताल में पहुँचकर भर्ती हो जाऊँगा। मुझे नौका में डालकर चटगाँव शहर लाने की तैयारी होने लगी। गाँव के डॉक्टर को पता लगा तो वह दौड़ा-दौड़ा आया—

'भन्ते, आप इस प्रकार यहाँ से चले जायेंगे तो मेरी इतनी बदनामी होगी कि फिर मेरी प्रैक्टिस नहीं चल सकेगी। आप घबरायें नहीं, दो-एक दिन में सूजन पटक जायगी।'

जो वेदना मेरे लिए असह्य थी, उसे डॉक्टर एक-दो दिन यूँ ही सहते रहने का परामर्श दे रहा था। लेकिन यह अब उसके भी क्या वश की बात थी ? मैंने भी सोच-विचार किया। अंत में कहा —

'डॉक्टर साहब ! भिक्षु के शरीर का कोई बहुत मूल्य नहीं। मेरे जाने से आपकी प्रैक्टिस पर असर नहीं पड़ना चाहिए। मैं जैसे भी होगा यहीं पड़ा रहूँगा।'

दो-तीन दिन तक पीठ सेंकी जाती रही। सूजे हुए हिस्से पर स्पिरिट लगती रही। सूजन कम हो गयी। जब मैंने देखा कि अब मेरा गाँव छोड़ना उस डॉक्टर के लिए विशेष बदनामी का कारण न होगा तब मैं चटगाँव शहर चला आया। फिर चटगाँव में भी अधिक न रहा। कलकत्ते आया। घूमते-फिरते जलवायु-परिवर्तन में कहीं-न-कहीं वह मलेरिया छूट गया। छुट गया, सो छुट गया।

ऐसा तो नहीं कि मलेरिया के उस इंजेक्शन ने ही इतने दिन बाद अपना प्रभाव दिखाया हो ? किसी वस्तु विशेष का गुण सिद्ध करना ही हो तो इस प्रकार का तर्क भी दिया ही जा सकता है।

यहाँ वर्धा में कभी अस्वस्थ हो जाता हूँ तो भरसक ठंडे पानी, गरम पानी, मिट्टी-एनिमा, भोजन-परिवर्तन से ही चंगा हो जाता हूँ। समिति के डॉक्टर श्री त्रिवेदी भी मेरी इस प्रवृत्ति से परिचित हैं। जहाँ तक बन पड़ता है, वह मुझे दवाई नहीं देते। कभी-कभी जब मेरी अक्ल काम नहीं करती तो कोई दवाई ले भी लेता हूँ, किंतु इंजेक्शन की नौबत नहीं आती। यह सब होने पर भी इस वर्ष बिना किसी रोग के तीन इंजेक्शन लेने पड़े।

हरिद्वार कुंभ के अवसर पर मैं दिल्ली था। सेठ गोविंददास ने अपने 'गौ-सेवा-सम्मेलन' के सिलसिले में कुंभ के अवसर पर हरिद्वार चलने का

आग्रह किया। सरकारी नियम था कि हैजे का टीका लगवाना पड़ेगा। टंडनजी द्वारा गौ-सेवा-सम्मेलन के उद्घाटित होने की बात थी। कुंभ में प्रवेश के लिए टीका लगवाना आवश्यक होने के कारण उन्होंने हरिद्वार जाना ही स्वीकार नहीं किया।

तभी सुनने में आया कि दिल्ली में बहुत थोड़े से पैसों में हैजे के टीके का सर्टिफिकेट प्राप्य है। मैं हरिद्वार जाना भी स्थगित कर सकता था और विवश किये जाने पर टीका भी लगवा ही सकता था, किंतु काले-बाजार में सर्टिफिकेट खरीदना मुझसे नहीं हो सकता था, सेठ गोविंददासजी की कृपा से उनके घर पर ही एक डॉक्टर ने हैजे का टीका लगा दिया। सेठ गोविंददास का तो मत है कि इन सुइयों का सामान्य स्वास्थ्य से कोई संबंध नहीं। वे प्रतिवर्ष घर के लोगों की बाहें बिधवाते रहते हैं। टंडनजी और गोविंददासजी हिंदी के एक-दूसरे से बढ़कर आग्रही हैं, किंतु इन सुइयों के मामले में दोनों के मत एकदम भिन्न! प्रसिद्ध सूक्ति है—'वह मुनि ही नहीं जिसका मत भिन्न न हो।'

हरिद्वार से लौटे अभी बहुत दिन नहीं हुए थे कि लंका से तार द्वारा विश्व-बौद्ध-सम्मेलन में सम्मिलित होने का निमंत्रण मिला। समय थोड़ा था। पासपोर्ट की व्यवस्था की और जैसे-तैसे लंका पहुँचा। लंका मेरे लिए भारत का ही एक दूसरा प्रांत है और भारत के कई प्रांतों की अपेक्षा मैं लंका से अधिक परिचित हूँ। वहाँ भारत से जो कोई भी जाता है उसे चेचक (स्मालपोक्स) का टीका लगवाना ही पड़ता है। कुछ वर्ष पुरानी आप-बीती इस प्रकार है—

दूसरी बार इंग्लैंड जाने के सिलसिले में मैं लंका पहुँचा। यहाँ भारत में रहते टीका न लगवा सका था, इसलिए मुझे वहाँ कोरा-टीम ऑफ़िस में जाना पड़ा। डॉक्टर बोला—

'आपने टीका नहीं लगवाया ?'

'मुझे टीका लगवाने के औचित्य में संदेह है।'

'संदेह हो, चाहे जो हो। कानून है। टीका लगवाना ही होगा।'

यदि मैं टीका न लगवाऊँ तो आप क्या करेंगे ?'

जो कानून कहेगा सो करेंगे ।'

'तो आपको जो कानून कहता हो कीजिए, मैं टीका नहीं लगवाता ।'

जेल जाने तक की मेरी तैयारी देखकर सिंहल के एक धनी-मानी सज्जन स्वर्गीय श्री एन० डी० सिल्वा घबरा गये । बोले—

'भंते, आप यह क्या करने जा रहे हैं ?'

तब तक डॉक्टर बोला—

'मैं आपसे एक बात कहता हूँ, वह सुन लीजिए, फिर जो इच्छा हो सो कीजिएगा । आप बौद्धों के सम्मानित व्यक्ति हैं । मैं ईसाई डॉक्टर हूँ । भीड़ में आपके साथ कुछ करूँगा तो कल पत्रों में छपेगा कि एक ईसाई डॉक्टर ने एक बौद्ध भिक्षु को हैरान किया । क्या आप चाहते हैं कि आपके इस आचरण के कारण देश में सांप्रदायिक भावना पैदा हो ?'

'नहीं, मैं अपने आग्रह को इतना महत्त्व नहीं दूँगा । आप अपने कंपाउंडर को आज्ञा दीजिए कि वह टीका लगा दे ।'

कंपाउंडर ने हाथ पर एक बिंदी-सी डाल कलम से तीन लकीरें काटीं । तब तक मैं समझता रहा कि वह टीका लगाने की तैयारी कर रहा है, कंपाउंडर बोला—'टीका लग चुका है ।'

डॉक्टर ने कहा—'अब आप जो चाहे करें । चाहे नीबू लगायें और चाहे और कुछ ।'

मैं समझ गया कि नीबू ही इसका निषेध है । घर पहुँचते ही नीबू रगड़ दिया । कहीं कुछ असर न हुआ ।

और इस बार !

हाँ, इस बार भी यही हुआ । लंका पहुँचा तो पता लगा कि पहिले तो केवल चेचक का टीका लगवाना पड़ता था अब उसके साथ लेना पड़ता है कॉलरा का इंजेक्शन भी ! डॉक्टर के पास न जाता तो भी चल जाता, लेकिन लौटते समय इंजेक्शनों का सर्टिफिकेट बिना दिखाये टिकट मिलने की

आशा न थी। मैंने डॉक्टर से कहा, 'कॉलरा का इंजेक्शन तो कुछ ही दिन पहले लिया है।'

बोला—'सर्टिफिकेट ?'

मैंने कहा— सर्टिफिकेट तो मैंने पास रखा नहीं। यह ध्यान नहीं था कि अभी लंका आना होगा। वहाँ उसकी आवश्यकता पड़ सकती है।'

'हमें इंजेक्शन से मतलब नहीं। सर्टिफिकेट से मतलब है। हम आपको यह अंतर्जातीय सर्टिफिकेट की कापी देते हैं। आपको जब जहाँ जाना हो, यह सभी जगह काम देगी।'

वह अंतर्जातीय सर्टिफिकेट लेने के लिए मुझे एक ही हाथ में एक ही दिन चेचक का टीका और कॉलरा का इंजेक्शन लेना पड़ा। सप्ताह तक हाथ उठाये नहीं उठा। लकड़ी बना रहा। मैं मजबूर था।

मलाबार-हिल, बंबई का अनुभव याद आ रहा है—

श्री कन्हैयालाल मुंशी के यहाँ ठहरा हुआ था। उसी समय कर्मवीर-संपादक माखनलाल चतुर्वेदी भी वहीं विराजमान थे। उनके साथ एक सोलह-सत्तरह वर्ष का तरुण था। नाम स्मृति से उतर गया है, उसकी एड़ी में कुछ कष्ट था। चतुर्वेदीजी से कहकर वह पास के डॉक्टर साहब के पास गया। बड़ी देर तक न लौटा। चतुर्वेदीजी चिंतित हुए। मैंने उनकी चिंता अपने सिर ली और डॉक्टर के यहाँ पहुँचा। देखा लड़के का पैर लहू-लुहान है और उसमें पट्टी बँधी है। मुझे देखते ही डॉक्टर बोला—

मैंने इस लड़के को बहुत समझाया कि इसे ऑपरेशन की कोई जरूरत नहीं है। यह मानता ही नहीं था। आखिर मैंने ऑपरेशन कर दिया।'

'तो अब आप क्या करने जा रहे हैं ?'

'ऑपरेशन से जो दर्द हो रहा है उसे कम करने के लिए इंजेक्शन देने जा रहा हूँ।'

मुझे डॉक्टर की बेहूदगी पर क्रोध आया। अपने विवेक के विरुद्ध उस लड़के के कहने पर उसने उसका पैर काट डाला था किंतु अब क्या करता ? चुप बैठा रहा। थोड़ी देर में लड़का चिल्लाया। मैंने पूछा—

'डॉक्टर साहब, यह क्या ?'

'इंजेक्शन जरा उधर चला गया है।'

'मालूम होता है कि आप इस लड़के पर अपने तजुरबे कर रहे हैं।'

'क्या आप समझते हैं कि मैं तजुरबे कर रहा हूँ ?'

बात बढ़ाने से और डॉक्टर को गुस्सा दिलाने से कोई लाभ न था। उसके हाथ में शस्त्र था। न जाने कहाँ कैसे गड़ा दे। मैं चुप ही रहा। डॉक्टर इंजेक्शन दे चुका तो उस भाई को जैसे-तैसे मोटर में डालकर मैं घर ले आया।

आज भी सोचता हूँ कि वह कैसा डॉक्टर है जो बंबई में और मालाबार-हिल पर प्रैक्टिस कर रहा है। वह तो मुझे लाइसेंस प्राप्त हत्यारा लगा।

हम प्राचीन मिथ्या-विश्वासों से मुक्त हो रहे हैं। इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम सावधान रहें कि हमें आधुनिक मिथ्या-विश्वास ग्रस न ले।

आपने मेरी रचना पढ़ी ?

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

हमारे साहित्यिकों की एक भारी विशेषता यह है कि जिसे देखो, वही गंभीर बना है, गंभीर तत्त्ववाद पर बहस कर रहा है और जो कुछ भी वह लिखता है उसके विषय में निश्चित धारणा बनाये बैठा है कि वह एक क्रांतिकारी लेख है। जब आये दिन ऐसे ख्यात-अख्यात साहित्यिक मिल जाते हैं जो छूटते ही पूछ बैठते हैं, 'आपने मेरी अमुक रचना तो पढ़ी होगी ?' तो उनकी नीरस प्रवृत्ति या विनोद-प्रियता का अभाव बुरी तरह प्रकट हो जाता है। एक फिलासफर ने कहा है कि विनोद का प्रभाव कुछ रासायनिक-सा होता है। आप दुर्दांत डाकू के दिल में विनोद-प्रियता भर दीजिए, वह लोकतंत्र का लीडर हो जायगा; आप समाज-सुधार के उत्साही कार्यकर्ता के हृदय में किसी प्रकार विनोद का इंजेक्शन दे दीजिए, वह अखबार-नवीस हो जायगा। और यद्यपि कठिन है, फिर भी किसी युक्ति से उदीयमान छायावादी कवि की नाड़ी में थोड़ा विनोद भर दीजिए, वह किसी फिल्म कंपनी का नामी अभिनेता हो जायगा।

एक आधुनिक चीनी फिलासफर को दिनरात यह चिंता परेशान करती रही थी कि आखिर प्रजातंत्र के नेताओं और डिक्टेटरों में अंतर क्या है। यदि आप सचमुच गंभीरता-पूर्वक छान-बीन करें तो रूजवेल्ट और स्टालिन में कोई मौलिक अंतर नहीं मिलेगा। या दूर की बात छोड़िए। गांधी और जिन्ना में कोई अंतर नहीं है—जहां तक शक्ति-प्रयोग का प्रश्न है। गांधी की बात भी कांग्रेस के लिए कानून है और जिन्ना की बात भी मुस्लिम लीग के लिए वेद-वाक्य है। फिर भी एक डेमोक्रेट है और दूसरा डिक्टेटर। क्यों ? चीनी फिलासफर ने चार वर्ष की निरंतर साधना के बाद आविष्कार

किया कि डेमोक्रेट हँसना या मुस्कराना जानता है, पर डिक्टेटर हँसने की बात सोचते भी नहीं। उनको आप जहाँ भी देखें और जब भी देखें, उनकी भृकुटियाँ तनी हुई हैं, मुट्ठियाँ बँधी हुई हैं, ललाट कुंचित है, अधरोष्ठ दाँतों की उपांत रेखा के समानांतर जमा हुआ है—मानो ये अभी दुनिया को भस्म कर देना चाहते हैं। अगर इन शक्तिशाली डिक्टेटरों में हँसने का थोड़ा-सा भी माद्दा होता तो दुनिया आज कुछ और हो गयी होती।

जब-जब मैं कलकत्ते के चिड़ियाघर में गया हूँ तब-तब मुझे ऐसा लगा है कि संसार के जीवों में सबसे अधिक गंभीर और चिंतामग्न चेहरा उस चिड़ियाघर में रखे हुए एक वनमानुष का है। उसको देखते ही जान पड़ता है कि संसार की समस्त वेदना को वह हस्तामलक की भाँति देख रहा है और अपनी सुदूरपातिनी दृष्टि से इन आने-जाने वाले दर्शकों के करुण भविष्य को वह प्रत्यक्ष देख रहा है। मैंने बाद में पढ़ा है कि अफ्रीका के हबशियों में यह विश्वास है कि वनमानुष मनुष्य की बोली बोल भी सकते हैं और संसार के रहस्य को भलीं-भाँति समझ भी सकते हैं; परंतु इस डर से बोलते नहीं कि कहीं लोग पकड़कर उन्हें गुलाम न बना लें। यह बात जब तक मुझे नहीं मालूम थी तब तक मैं समझता था कि कलकत्ते वाला वनमानुष ही बहुत गंभीर और तत्त्व-चिंतक लगता है। अब मैंने अपनी राय में संशोधन कर लिया है। वस्तुतः संसार के सभी वनमानुष गंभीर तत्त्वदर्शी दिखायी देते हैं।

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि आदिम युग का मनुष्य—जब कि वह वानरी योनि से मानवी योनि में नया-नया आया था—कुछ इस कलकतिये वनमानुष की ही भाँति गंभीर रहा होगा। मगर यह भी कैसे कहूँ? जेब्रा और जेडा भी मुझे कम गंभीर नहीं लगते तथा गधे और ऊँट भी इस सूची से अलग नहीं किये जा सकते। फिर भी इनकी तुलना वनमानुष से नहीं की जा सकती। अंततः गधे और वनमानुष की गंभीरता में मौलिक भेद है। गधा उदास होता है और इसलिए नरात्मक है; पर वनमानुष सोचता हुआ-सा रहता है और इसीलिए उसकी गंभीरता में कुछ तत्त्व

है, कुछ सार है। गधे की गंभीरता प्रोलीतारियत की उदासी है और वनमानुष की गंभीरता वर्गवादी मनीषी की। दोनों को एक श्रेणी में नहीं कहा जा सकता।

परंतु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आदि मानव कुछ गंभीर, कुछ तत्त्व-चिंतक और कुछ उदास जरूर था और उसकी उदासी वर्गवादी विचारक की उदासी की जाति की ही रही हो, ऐसा भी हो सकता है। सच पूछिए तो शुरू-शुरू में मनुष्य कुछ साम्यवादी ही था। हँसना-हँसाना तब शुरू हुआ होगा जब उसने कुछ पूँजी इकट्ठी कर ली होगी और संचय के साधन जुटा लिये होंगे। मेरा निश्चित मत है कि हँसना-हँसाना पूँजीवादी मनोवृत्ति की उपज है। इस युग के हिंदी साहित्यिक जो हँसना नापसंद करते हैं उसका कारण शायद यह है कि पूँजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्ति को मन-ही-मन घृणा करने लगे हैं। उनकी युक्ति शायद इस प्रकार है—चूँकि संसार के सभी लोग हँस नहीं सकते, इसीलिए हँसी एक गुनाह है और चूँकि संसार के सभी लोग थोड़ा-बहुत रो सकते हैं, इसलिए रोना ही वास्तविक धर्म है। फिर भी अधिकांश साहित्यिक रोते नहीं, केवल रोनी सूरत बनाये रहते हैं, जिसे थोड़ा-सा भी गणित सिखाया गया हो वह बहुत आसानी से इस आचरण की युक्ति-युक्तता समझ सकता है। मैं समझा रहा हूँ।

यह तो स्वयं-सिद्ध बात है कि दुनिया में दुःख सुख की अपेक्षा अधिक है अर्थात् रोदन हास्य से अधिक है। अब सारी दुनिया के रोदन को बराबर-बराबर बाँट दीजिए और हँसी को भी बराबर-बराबर बाँट दीजिए। स्पष्ट है कि सबको रोदन हास्य से ज्यादा मिलेगा। अब रोदन में से हास्य घटा दीजिए। कुछ रोदन ही बच रहेगा। इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ मिलेगा उससे फूट-फूटकर तो नहीं रोया जा सकता; पर चेहरा जरूर रुँआसा बना रहेगा। यह युक्ति तो मुझे ठीक जँचती है।

लेकिन युक्ति का ठीक जँचना साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में सब समय प्रमाण स्वरूप ग्रहण नहीं किया जाता। रहस्यवादी आलोचक यह

नहीं मानते कि युक्ति और तर्क में ही सब कुछ है। मैंने आलोचक शब्द के विशेषण के लिए रहस्यवादी शब्द किसी को चौंका देने की मंशा से व्यवहार नहीं किया है। बहुत परिश्रम के बाद मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिंदी में वस्तुतः रहस्यवादी कवि हैं ही नहीं। यदि कोई रहस्यवादी कहा जा सकता है तो वह निश्चय ही एक श्रेणी का आलोचक है। जहाँ तक हिंदी बोलने वालों का संबंध है, रहस्यवादी साधु और फकीर तो बहुत हैं; पर वे सब साधना की दुनियाँ के जीव हैं, साहित्य की दुनिया के रहस्यवादी जीव यदि कोई है तो वे निश्चय ही एक तरह के आलोचक हैं। और जब कभी मैं रहस्यवादी शब्द की बात सोचता हूँ तो काशी के भदैनी मुहल्ले की सड़क पर साधना करने वाला रहमतअली फकीर मेरे सामने जरूर आ जाता है। यह फकीर मन, वचन और कर्म तीनों से विशुद्ध रहस्यवादी था। 'अनिकेत' वह जरूर था; पर उसके बड़े-से-बड़े निंदक को भी यह कहने में जरूर संकोच होगा कि वह 'स्थिर मति' भी था।

सो, मैंने एक दिन देखा कि यह रहस्यवादी शून्य की ओर आँखें उठाये हुए किसी अदृश्य वस्तु पर निरंतर प्रहार कर रहा है। लात, मुक्के, घूँसे—एक, दो, तीन''''लगातार। दर्शक तो वहाँ बहुत थे, कुछ सहमे हुए, कुछ भक्तियुक्त, कुछ 'योंही से' और कुछ गंभीर। एकाध मुस्कुरा भी रहे थे। इन्हें देखकर ही मुझे रहस्यवादी आलोचकों की याद आयी। सारा कांड कुछ ऐसा अजीब था कि विनोद की एक हलकी रेखा के सिवा तत्त्वज्ञान तक पहुँचा देने का और कोई साधन ही नहीं था। तब से जब मैं देखता हूँ कि कोई शून्य की ओर आँखें उठाये है और किसी अदृश्य वस्तु पर निरंतर प्रहार कर रहा है तब मुझे रहस्यवाद की याद आये बिना नहीं रहती। सो यह रहस्यवादी दल युक्ति नहीं माना करता। 'युक्ति' शब्द में ही (युज + ति) किसी वस्तु से योग का संबंध है। और यह मान लिया गया है कि योग दृश्य वस्तु से ही स्थापित किया जा सकता है। अदृश्य के साथ योग कैसा ?

आसमान में निरंतर-मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है और मैं

निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकंपितः। यह क्या कम साधना है ? आये दिन साहित्यिकों के विषय में विचार होता ही रहता है और इन विचारों पर विचार लिखनेवाले बुद्धिमान लोग गंभीर भाव से सिर हिलाकर कहते हैं—आखिर साहित्यिक कहें किसे ? बहसें होती हैं, अखबार रंगे जाते हैं, मेरे जैसे आलसी आदमी भी चिंतित हो जाते हैं और अंत में सोचता हूँ कि 'साहित्यिक' तो साहित्य के संबंधी को ही कहते हैं न ? सो संबंध तो कई तरह के हैं। बादरायण एक है। आपके घर अगर बेर के फल हैं, मेरे घर बेर के पेड़, तो इस संबंध को पुराने पंडित 'बादरायण' संबंध कहेंगे। साहित्य से संबंध रखने वाले जीव पाँच प्रकार के हैं—लेखक, पाठक, संपादक, प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढ़ने वाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करने वाला पढ़ता नहीं · यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी, या पढ़े भी और आलोचना भी करे या लिखे भी इत्यादि-इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जाय। इसीलिए जब एक लेखक दूसरे लेखक से पूछता है कि आपने मेरी अमुक रचना पढ़ी है तब जी में आता है कि कह दूँ, 'डॉक्टर के पास जाओ। तुम्हारे दिमाग में कुछ दोष है'। पर डॉक्टर क्या करेगा ? विनोद का इंजेक्शन किसी फैक्टरी ने अभी तक तैयार नहीं किया। इसीलिए मुस्कराकर चुप लगा जाता हूँ। मेरे एक होमियोपैथ मित्र का दृढ़ मत है कि विनोद की कमी दूर करने के लिए कोई इंजेक्शन तैयार किया जा सकता है। वे इस बात का प्रयत्न भी कर रहे हैं कि किसी हँसोड़ की छाया किसी तरह अल्कोहल में घुलाकर उसपर से विनोद की दवा तैयार करें और चिकित्सा की और साहित्य की दुनिया में एक ही साथ क्रांति कर दें। पर वह अभी प्रयोगावस्था में ही हैं। तब तक मुझे भी सब सहना पड़ेगा और सहे भी जा रहा हूँ।

●

रामा

महादेवी वर्मा

रामा हमारे यहाँ कब आया यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहन। बचपन में जिस प्रकार हम बाबूजी की विविधता भरी मेज से परिचित थे जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे में हमारे खिलौनों की सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे जिस पर सोकर हम कच्छ-मत्स्यावतार जैसे लगते थे और माँ के शंखघड़ियाल से घिरे ठाकुरजी को पहचानते थे जिनका भोग अपने मुँह में अंतर्धान कर लेने के प्रयत्न में हम आधी आँखें मीचकर बगुले के मनोयोग से घंटी की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीरवाले रामा के बड़े नखों से लंबी शिखा तक हमारा सनातन परिचय था।

साँप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गाँठदार टहनियों जैसी उँगलियों वाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने ले लेकर सोने के समय तक हमारा उससे जो विग्रह चलता रहता था उसकी अस्थायी संधि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दिशाएँ खोजती हुईं उँगलियों के बिखरे कुटुंब को बड़े-बूढ़े के समान सँभाले हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गये थे, क्योंकि कोई नटखटपन करके हौले से भागेने पर भी वे मानो पंख लगाकर हमारे छिपने के स्थान में जा पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है। जब हमारी भावप्रवणता गंभीर और प्रशांत होती हैं तब अतीत की रेखाएँ कुहरे में से स्पष्ट होती

हुईं वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट-से-स्पष्टतर होने लगती हैं, पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं उस समय पत्थर फेंकने से हटकर मिल जाने वाली, पानी की काई के समान विस्मृति उन्हें फिर ढक लेती हैं।

रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहें और छोटी-छोटी स्नेहतरल आँखें कभी-कभी स्मृति पट पर अंकित हो जाती हैं और कभी धुंधली होते-होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके झुंझलाये शिल्पी की अंतिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दंतपंक्ति के संबंध में भी यही सत्य है।

रामा के बालों को तो आधा इंच से अधिक बढ़ने का अधिकार ही नहीं था, इसी से उसकी लंबी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिए हम कैंची लिये घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊँ का ठौर थी, क्योंकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए हम ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरूप था, परंतु तब उससे भव्य साथी की कल्पना भी हमें असह्य थी।

वास्तव में जीवन, सौंदर्य की आत्मा है, पर वह सामंजस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है उतनी विषमता में नहीं। जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते हैं वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता, इसी से वह केवल जीवन को पहचानता है। जहाँ उसे जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणें फूटती जान पड़ती हैं वहाँ वह व्यक्त विषम रेखाओं की अपेक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष, घृणा आदि के धूम से जीवन ढका रहता है वहाँ वह वाह्य सामंजस्य को भी ग्रहण नहीं करता।

इसी से रामा हमें बहुत अच्छा लगता था। जान पड़ता है उसे भी अपनी कुरूपता का पता नहीं था तभी तो वह केवल एक मिर्जई और घुटनों

तक ऊँची धोती पहनकर अपनी कुडौलता के अधिकांश की प्रदर्शनी करता रहता था। उसके पास सजने को उपयुक्त सामग्री का आभाव नहीं था क्योंकि कोठरी में अस्तर लगा लंबा कुरता, बँधा हुआ साफ़ा, बुंदेलखंडी जूते और गँठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त्त की प्रतीक्षा करते जान पड़ते थे। उनकी अखण्ड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्यकारिणी समिति में यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाहों में लाठी को अटकाकर खिलौनों का परदा बनाया जावे, डलिया जैसे साफे को खूँटी से उतारकर उसे गुड़ियों का हिंडोला बनने का सम्मान दिया जावे और बुंदेलखंडी जूतों को हौज में डालकर गुड्डों के जल-विहार का स्थायी प्रबंध किया जावे। पर रामा अपने अँधेरे दुर्ग के चर्रमर्र में डाटते हुए द्वार को इतनी ऊँची अर्गला से बंद रखता था कि हम स्टूल पर खड़े होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बड़े होकर सुन सके वह भी उसी के समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को माँ वड़ी, पापड़ आदि के अक्षय-कोष को धूप दिखा रही थीं तब न जाने कब दुर्बल और क्लांत रामा आँगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह 'ए मताई ए रामा तो भूखन के मारे जो चलो' कहता हुआ उनके पैरों पर लोट गया। दूध-मिठाई आदि का रसायन देकर माँ जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकीं तब समस्या और भी जटिल हो गयी, क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नहीं जिसमें उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुंदेलखंड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भागकर माँगता-खाता इंदौर तक जा पहुँचा था, जहाँ न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति में रामा यदि माँ की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठा तो आश्चर्य क्या!

उस दिन संध्या समय जब बाबूजी लौटे तो लकड़ी रखने की कोठरी के एक कोने में रामा के बड़े-बड़े जूते विश्राम कर रहे थे और दूसरे में

लंबी लाठी समाधिस्थ थी। और हाथ-मुँह धोकर नये सेवाव्रत में दीक्षित रामा हक्का-बक्का-सा अपने कर्तव्य का अर्थ और सीमा समझने में लगा हुआ था।

बाबूजी तो उसके अपरूप रूप को देखाकर विस्मय-विमुग्ध हो गये। हँसते-हँसते पूछा—यह किस लोक का जीव ले आये हैं धर्मराजजी? माँ के कारण हमारा घर अच्छा-खासा जू बना रहता था। जब बाबूजी लौटते तब प्रायः कभी कोई लँगड़ा भिखारी बाहर के दालान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खँजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहनकर आँगन में चौकड़ी भरता दिखायी देता और कभी कोई वृद्धा ब्राह्मी भंडार घर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती।

बाबूजी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की, पर उन्हें चिढ़ाने में वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होंने क्षणभर का अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठीं, मैंने खास अपने लिए इसे नोकर रख लिया है।'

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षणभर विश्राम नहीं करता वह केवल अपने लिए नौकर रखे यही कम आश्चर्य की बात नहीं, उसपर ऐसा विचित्र नौकर। बाबूजी का हँसते-हँसते बुरा हाल हो गया—विनोद से कहा—'ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जावें ऐसे, खास साँचे में ढले सेवक हों तो धर्मराजजी की सेवा में रह सकते हैं।'

उन्हें अज्ञातकुलशील रामा पर विश्वास नहीं हुआ, पर माँ से तर्क करना व्यर्थ होता, क्योंकि वे किसी की पात्रता-अपात्रता का मापदंड अपनी सहज समवेदना ही को मानती थीं। रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उनकी सहानुभूति ने जिस सरल हृदय को परख लिया उसमें अक्षय सौंदर्य न होगा ऐसा संदेह उनके लिए असंभव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहाँ रह गया, पर उसका कर्तव्य निश्चित करने की समस्या नहीं सुलझी।

सब कामों के लिए पुराने नौकर थे और अपने पूजा और रसोईघर का कार्य माँ किसी को सौंप ही नहीं सकती थीं। आरती, पूजा आदि के संबंध में उनका नियम जैसा निश्चित और अपवादहीन था भोजन बनाने के संबंध में उससे कम नहीं।

एक ओर यदि उसे विश्वास था कि उपासना उनकी आत्मा के लिए अनिवार्य है तो दूसरी ओर दृढ़ धारणा थी कि उनका स्वयं भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए एकांत आवश्यक है।

हम सब एक-दूसरे से दो-दो वर्ष छोटे-बड़े थे, अतः हमारे अबोध और समझदार होने के समय में विशेष अंतर नहीं रहा। निरंतर यज्ञ-ध्वंस में लगे दानवों के समान हम माँ के सभी महान् अनुष्ठानों में बाधा डालने की ताक में मँडराते रहते थे, इसी से वे रामा को, हम विद्रोहियों को वश में रखने का गुरु कर्तव्य सौंपकर कुछ निश्चित हो सकीं।

रामा सबेरे ही पूजा-घर साफकर वहाँ के बर्तनों को नीबू से चमका देता – तब वह हमें उठाने आता। उस बड़े पलंग पर सबेरे तक हमारे सिर-पैर की दिशा और स्थितियों में न जाने कितने उलट-फेर हो चुकते थे। किसी की गर्दन को किसी का पाँव नापता रहता था, किसी के हाथ पर किसी का सर्वांग तुलता होता था और किसी की साँस रोकने के लिए किसी की पीठ दीवार बनी मिलती थी। सब परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए रामा का कठोर हाथ कोमलता के छद्मवेश में, रजाई या चादर पर एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आता था और तब वह किसी को गोद के रथ, किसी को कंधे के घोड़े पर तथा किसी को पैदल ही, मुखप्रक्षालन जैसे समारोह के लिए ले जाता।

हमारा मुँह हाथ धुलाना कोई सहज अनुष्ठान नहीं था, क्योंकि रामा को 'दूध बतासा राजा खाय' का महामंत्र तो लगातार जपना ही पड़ता था, साथ ही हम एक-दूसरे का राजा बनना भी स्वीकार नहीं करना चाहते

थे। रामा जब मुझे राजा कहता तब नन्हें बाबू चिड़िया की चोंच जैसा मुँह खोलकर बोल उठता 'लामा इन्हें कौं लाजा कहते हो ?' र कहने में भी असमर्थ उस छोटे पुरुष का दंभ कदाचित् मुझे बहुत अस्थिर कर देता था। रामा के एक हाथ की चक्रव्यूह जैसी उँगलियों में मेरा सिर अटका रहता था और उसके दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओं वाली हथेली सुदर्शन-चक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती रहती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसी से मैं साम-दाम दंड-भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों को संतुष्ट करने का अमोघ मंत्र जानता था। वह मेरे कान में हौले से कहता 'तुमई बड्डे राजा हौ जू, नन्हें नइयाँ' और कदाचित् यही नन्हे के कान में भी दोहराया जाता, क्योंकि वह उत्फुल्ल होकर मंजन की डिबिया में नन्हीं उँगली डालकर दाँतों के स्थान में ओठ माँजने लगता। ऐसे काम के लिए रामा का घोर निषेध था, इसी से मैं उसे गर्व से देखती मानों वह सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तियाँ एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे-बड़े चम्मच, दूध का प्याला, फलो की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओं को आँख मूँदकर कौव्वे द्वारा पुजापा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आँख मूँदते वैसे ही किसी के मुँह में अँगूर, किसी के दाँतों में बिस्कुट और किसी के ओठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही था, क्योंकि हम सभी अधखुली आँखों से रामा की काली, मोटी उंगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौव्वे की काली कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आँखों से मैं काल्पनिक कौव्वे और उसकी चोंच में रामा के हाथ और उँगलियों को न

पहचान लेती तो मेरा भोग का लालच छोड़कर उठ भागना अवश्यंभावी था।

जलपान का विधान समाप्त होते ही रामा की तपस्या की इति नहीं हो जाती थी। नहाते समय आँख को साबुन के फेन से तरंगित और कान को सूखा द्वीप बनने से बचाना, कपड़े पहनते समय उनके उलटे-सीधे रूपों में अतर्क वर्ण-व्यवस्था बनाये रहना, खाते समय भोजन की मात्रा और भोक्ता की सीमा में अन्याय न होने देना, खेलते समय यथावश्यकता हमारे हाथी, घोड़ा, उड़न-खटोला आदि के अभाव को दूर करना और सोते समय हम पर पंख जैसे हाथों को फैलाकर कथा सुनाते-सुनाते हमें स्वप्न-लोक के द्वार तक पहुँचा आना रामा का ही कर्तव्य था।

हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उस पर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था। एक दिन दशहरे का मेला देखने का हठ करने पर रामा बहुत अनुनय-विनय के उपरांत माँ से, हमें कुछ देर के लिए ले जाने की अनुमति पा सका। खिलौने खरीदने के लिए जब उसने एक को कंधे पर बैठाया और दूसरे को गोद लिया तब मुझे उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा, 'उँगरियाँ जिन छोड़ियो राजा भइया'। सिर हिलाकर स्वीकृति देते-देते ही मैंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भटकते और दबने से बचते-बचते जब मुझे भूख लगी तब रामा का स्मरण आना स्वाभाविक था। एक मिठाई की दूकान पर खड़े होकर मैंने यथासंभव उद्विग्नता छिपाते हुए प्रश्न किया। 'क्या तुमने रामा को देखा है ? वह खो गया है।' बूढ़े हलवाई ने धुँधली आँखों में वात्सल्य भरकर पूछा, 'कैसा है तुम्हारा रामा ?' मैंने ओठ दबाकर संतोष के साथ कहा, 'बहुत अच्छा है।' इस हुलिया से रामा को पहचान लेना कितना असंभव था यह जानकर ही कदाचित् वृद्ध कुछ देर वहीं विश्राम कर लेने के लिए आग्रह करने लगा। मैं हार तो मानना नहीं चाहती थी, परंतु पाँव थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमंत्रण नहीं था, इसी से दूकान के एक कोने में बिछे टाट पर सामान्य

अतिथि की मुद्रा में बैठकर मैं बूढ़े से मिले मिठाई रूपी अर्घ्य स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान यात्रा की कथा सुनाने लगी।

वहाँ मुझे ढूँढते ढूँढते रामा के प्राण कंठगत हो रहे थे। संध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा तब मैंने विजय-गर्व से फूलकर कहा, 'तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो रामा!' रामा के कुम्हलाये मुख पर ओस के बिंदु जैसे आनंद के आँसू ढुलक पड़े। वह मुझे घुमा-घुमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा मानो मेरा कोई अंग मेले में छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बड़ों के कोश में छोटों की ऐसी वीरता का नाम अपराध है, पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डाँट-फटकार भी रामा ने ही सही और हम सबको सुलाते समय उनकी वात्सल्यभरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।

एक बार अपनी और परायी वस्तु का सूक्ष्म और गूढ़ अंतर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था! कहाँ से कौन-सी परायी चीज लाकर रामा की छोटी आँखों को निराश विस्मय से लबालब भर दें इसी चिंता में हमारे मस्तिष्क एकबारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से ठाकुर साहब का घर कुछ इस तरह मिला हुआ था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था—हाँ, राह एक बालिश्त चौड़ी मुँडेर मात्र थी जहाँ से पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आँगन में लगे फूल परायी वस्तु की परिभाषा में आ सकते हैं यह निश्चित कर लेने के उपरांत हम लोग एक दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए उस आकाशमार्ग से फूल चुराने चले। किसी का भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती, पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गये। नीचे के जीने की अंतिम सीढ़ी पर एक कुत्ती नन्हें-नन्हें बच्चे लिये बैठी थी जिन्हें देखते ही हमें वस्तु के संबंध में अपना निश्चय बदलना पड़ा। पर ज्यों ही हमने एक पिल्ला उठाया त्यों ही वह

निरीह-सी माता अपने इच्छा भरे अधिकार की घोषणा से धरती-आकाश एक करने लगी। बैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त भाववाले गृहस्वामी निकल आये और शयनागार से जब आलस्यभरी गृहस्वामिनी दौड़ पड़ीं तब हम बड़े असमंजस में पड़ गये। ऐसी स्थिति मे क्या किया जाता है यह तो रामा के व्याख्यान में था ही नहीं, अतः हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मंतव्य प्रकट कर दिया, कहा — 'हम छत की राह से फूल चुराने आये हैं।' गृहस्वामी हँस पड़े—पूछा, 'लेते क्यों नहीं ?' उत्तर और भी गंभीर मिला, 'अब कुत्ती का पिल्ला चुरायेंगे।' पिल्ले को दबाये हुए जब तक हम उचित मार्ग से लौटे तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया था। अपने उपदेशरूपी अमृतवृक्ष में यह विषफल लगते देख वह एकदम अस्थिर हो उठा होगा, क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकड़कर अधर में उठाते हुए पूछा, 'कहो जू, कहो जू, किते गये रहे !' पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था इसी से दाँतों से ओठ दबाकर मैंने यह अभूतपूर्व दंड सहा और फिर बहुत संयत क्रोध के साथ माँ से कहा, 'रामा ने मेरे कान खींचकर टेढ़े भी कर दिये हैं और बड़े भी—अब डॉक्टर को बुलवाकर इन्हें ठीक कर दो और रामा को अँधेरी कोठरी में बंद कर दो।' वे तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं सकता था इसलिए उसे बच्चों से दुर्व्यवहार न करने के संबंध में एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच लज्जित था, पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था उतना ही उसके राजा भइया को कान का दर्द याद आता था। फिर भी संध्या समय रामा को खिन्न मुद्रा से बाहर बैठा देखकर मैंने 'गीत सुनाओ' कहकर संधि का प्रस्ताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था 'ऐसो सिय रघुवीर भरोसो' और उसे वह जिस प्रकार गाता था उससे पेड़ पर के चिड़िया, कौवे तक उड़ सकते थे। परंतु हम लोग उस अपूर्व गायक के अद्भूत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समकालीन बालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इसीसे रामा का उसमें विशेष महत्त्व है।

उस समय परिवार में कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। आँगन में गानेवालियाँ, द्वार पर नौबतवाले और परिवार के बूढ़े से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गयी। बड़ी-बूढ़िया संकेत से मूक गानेवालियों को जाने के लिए कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारे से नीरव बाजे वालों को विदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल में कब ऐसा हुआ यह तो पता नहीं पर जब दीर्घकाल तक कोई देवी नहीं पधारीं तब चिंता होने लगी, क्योंकि जैसे अश्व के बिना अश्वमेध नहीं हो सकता वैसे ही कन्या के बिना कन्यादान का महायज्ञ संभव नहीं।

बहुत प्रतीक्षा के उपरांत जब मेरा जन्म हुआ तब बाबा ने इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लिए अपना फारसी ज्ञान भूलकर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूंढ लाये जिसकी विशालता के सामने कोई मुझे छोटा-मोटा घर का नाम देने का भी साहस न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिए सब बचपन से ही मेरे मस्तिष्क में इतनी विद्या-बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध मन विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह-छाया के बिना मैं जीवन की सरलता से परिचित हो सकती थी या नहीं इसमें संदेह है। मेरी पट्टी पुज चुकी थी और मैं, 'आ' पर उँगली रखकर आदमी के स्थान में आम, आलमारी, आज आदि के द्वारा मन की बात कह लेती थी। ऐसी दशा में मैं अपने भाई-बहिनों के निकट शुक्राचार्य से कम महत्त्व नहीं रखती थी। मुझे उनके सभी कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक में ढूंढ़ लेने की क्षमता प्राप्त थी और मेरी इस क्षमता के कारण उन्हें निरंतर

सतर्क रहना पड़ता था। नन्हे बाबू उछला नहीं कि मैंने किताब खोलकर पढ़ा, 'बन्दर नाच दिखाने आया', मुन्नी रूठी नहीं की मैंने सुनाया 'रूठी लड़की कौन मनावे, गरज पड़े तब दौड़ी आवे।' वे बेचारे शास्त्र-ज्ञान से बहुत चिंतित रहते थे, क्योंकि मेरे किसी कार्य के लिए दृष्टांत ढूँढ़ लेने का साधन उनके पास नहीं था। पर अक्षर-ज्ञानी शुक्राचार्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा, कहानी और कहावत आदि का जैसा वृहत् कोष था वैसा सौ पुस्तकों में भी न समाता। इसी से जब मेरा शास्त्र-ज्ञान महाभारत का कारण बनता तब वह न्यायाधीश होकर अपना निर्णय सबके कान में सुनाकर तुरंत संधि करा देता।

मेरे पंडितजी से रामा का कोई विरोध न था, पर जब खिलौनों के बीच ही में मौलवी साहब, संगीतशिक्षक और ड्राइंगमास्टर का आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित् वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझसे न सँभल सकेगा।

मौलवी साहब से तो मैं इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढ़ने से बचने के लिए बड़े से झाबे में छिपकर बैठना पड़ा। अभाग्य से झाबा वही था जिससे बाबा के भेजे आमों में से दो-चार शेष भी थे उन्हें निकालकर कुछ और भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता हुआ, माँ के सामने उठा लाया तब समस्या बहुत जटिल हो गयी। जैसे ही उसने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायनमान होने के अतिरिक्त कुछ न सूझा। अंत में रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढ़ने से छुट्टी दिला दी।

ड्राइंगमास्टर से मुझे कोई शिकायत नहीं रही, क्योंकि वे खेलने से रोकते नहीं थे। सब कागजों पर दो लकीरें सीधी खड़ी करके और उनपर एक गोला रखकर मैं रामा का चित्र बना देती थी—जब किसी और का बनाना होता तब इसी ढाँचे में कुछ पच्चकारी कर दी जाती थी।

नारायण महाराज से न मैं प्रसन्न रहती थी न रामा। जब उन्होंने पहले दिन संगीत सीखने के संबंध में मुझसे प्रश्न किया तब मैंने बहुत

विश्वास के साथ बता दिया कि मैं रामा से सीखती हूँ—जब उन्होंने सुनाने का अनुरोध किया तब मैंने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भावभंगी से सुना दिया कि वे अवाक् हो रहे। उस पर भी जब उन्होंने मेरे सेवक गुरु रामा को अपने से बड़ा और योग्य गायक नहीं माना तब मेरा अप्रसन्न हो जाना स्वाभाविक था।

रामा के बिना भी संसार का काम चल सकता है यह हम नहीं मान सकते थे। माँ जब १०-१५ दिन के लिए नानी को देखने जातीं तब रामा को घर और बाबूजी की देख-भाल के लिए रहना पड़ता था। बिना रामा के हम जाने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत नहीं होते, अतः वे हमें भी छोड़ जातीं।

बीमारी के संबंध में रामा से अधिक सेवापरायण और सावधान व्यक्ति मिलना कठिन था। एक बार जब छोटे भाई के चेचक निकलीं तब वह शेष को लेकर ऊपर के खंड में इस तरह रहा कि हमें भाई का स्मरण ही नहीं आया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नहीं निकली।

एक बार और उसी के कारण मैं एक भयानक रोग से बच सकी हूँ। इंदौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से बाहर रहते थे। माँ और कुछ महीनों की अवस्था वाला छोटा भाई इतना बीमार था कि बाबूजी हम तीनों की खोज-खबर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रामा अपने स्नेह से हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव की अनुभूति ही असंभव हो जाती थी।

जब हम सघन आम की डाल में पड़े झूले पर बैठकर रामा की विचित्र कथाओं को बड़ी तन्मयता सुनते थे तभी एक दिन हल्के से ज्वर के साथ मेरे कान के पास गिल्टी निकल आयी। रामा ने एक बुढ़िया की कहानी सुनाई थी जिसके फूले पैर में से भगवान् ने एक वीर मेंढक उत्पन्न कर दिया था। मैंने रामा को यह समाचार देते हुए कहा, 'मालूम होता है मेरे कान से कहानी वाला मेंढक निकलेगा'। वह बेचारा तो सन्न हो गया। फिर

ईंट के गर्म टुकड़े को गीले कपड़े में लपेटकर उससे उसे कितना सेंका यह बताना कठिन है। सेंकते-सेंकते वह न जाने क्या वड़बड़ाता रहता था जिसमें कभी देवी, कभी हनुमान और कभी भगवान् का नाम सुनायी दे जाता था। दो दिन और दो रात वह मेरे बिछौने के पास से हटा ही नहीं—तीसरे दिन मेरी गिल्टी बैठ गयी पर रामा को तेज बुखार चढ़ आया। उसके गिल्टी निकली, चीरी गयी और बहुत बीमार रहा, पर उसे संतोष था कि मैं सब कष्टों से बच गयी। जब दुर्बल रामा के बिछौने के पास माँ हमें ले जा सकीं तब हमें देखकर उसके सूखे ओठ मानो हँसी से भर आये, धँसी आँखें उत्साह में तैरने लगीं और शिथिल शरीर में एक स्फूर्ति तरंगित हो उठी। माँ ने कहा, 'तुमने इसे बचा लिया था रामा! जो हम तुम्हें न बचा पाते तो जीवन भर पछतावा रह जाता।' उत्तर में रामा बढ़े हुए नाखून-वाले हाथ से माँ के पैर छूकर अपनी आँखें पोंछने लगा। रामा जब अच्छा हो गया तब माँ प्रायः कहने लगीं, 'रामा अब तुम घर बसा लो जिससे बाल-बच्चों का सुख देख सको।' 'बाई की बातें! मोय नासमिटे अपनन खौं का कनने हैं, मोरे राजा हरें बने रहें—जेई अपने रामा की नैय्या पार लगा देहें' ही रामा का उत्तर रहता था। वह अपने भावी बच्चों को लक्ष्य कर इतनी बातें सुनाता था कि हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नहीं हो गये थे, उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी के रूप में भी पहचान गये थे। हमें विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते तो वह उन्हें कभी नासमिटा, मुँहझौंसा आदि कहकर स्मरण न करता।

फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी, जूता आदि निकालकर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आँगन में आ खड़ा हुआ तब हम सब बहुत सभीत हो गये, क्योंकि ऐसी सज-धज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर संदेह भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया 'क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा?' रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हंसते उत्तर दिया, 'हाँ राजा भइया ऐसी देंहो नासमिटन के' पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू के माँ के

कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पड़े।

हमारे लिए अनंत और दूसरों के लिए कुछ समय के उपरांत एक दिन सवेरे ही केसरिया साफा और गुलावी धोती में सजा हुआ रामा दरवाजे पर आ खड़ा हुआ और राजा भइया, राजा भइया पुकारने लगा—हम सब गिरते-पड़ते दौड़ पड़े, पर बरामदे में सहमकर अटक रहे। रामा तो अकेला नहीं था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछोटा लगाये और हाथ में चूड़े और पाँव में पैंजना पहने जो घूँघटवाली स्त्री खड़ी थी उसने हमें एक साथ ही उत्सुक और सशंकित कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकड़कर झूलने लगी तब नाक की नोंक को छू लेने वाले घूँघट में से दो तीक्ष्ण आँखें उनके कार्य का मूक विरोध करने लगीं, नन्हे जब रामा के कंधे पर आसीन होने के लिए जिद करने लगा तब घूँघट में छिपे सिर में एक निषेध-सूचक कंपन जान पड़ा और जब मैंने झुककर उस नवीन मुख को देखना चाहा तब वह मूर्ति घूमकर खड़ी हो गयी। भला ऐसे आगंतुक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे रामा की अँधेरी कोठरी में महाभारत के अंकुर जमते गये और हमारे खेल के संसार में सूखा पड़ने की संभावना बढ़ती गयी। हमारे खिलौनों के नगर बसाने के लिए रामा विश्वकर्मा भी था और मय-दानव भी, पर अब वह अपने गुरु कर्त्तव्य के लिए अवकाश ही नहीं पाता था। वह आया नहीं कि घूँघटवाली मूर्ति पीछे-पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और रामा का ही नहीं गुड्डे-गुड़ियों का भी दम घुटने लगता था। इसी से एक दिन हमारी युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊँचे स्थान में बैठना चाहिए अतः मैं मेज पर चढ़कर धरती पर न पहुँचने वाले पैर हिलाती हुई, विराजी, मंत्री महोदय कुर्सी पर आसीन हुए और सेनापतिजी स्टूल पर जमे। तब राजा ने चिंता की मुद्रा से कहा, 'रामा इसे क्यों लाया है?' मंत्रीजी ने गंभीर भाव से सिर हिलाते हुए दोहराया, 'रामा इसे क्यों लाया है!' और सेनापति जी र न कह सकने की असमर्थता छिपाने के लिए आँखें तरेरते हुए बोले—'छच है इछे कौं लाया है?'

फिर उस विचित्र समिति में सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव हमारे एकछत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है उसे न्याय की मर्यादा के रक्षार्थ दंड मिलना ही चाहिए। यह कार्य नियमानुसार सेनापतिजी को सौंपा गया।

रामा की बहू जब रोटी बनाती तब नन्हे बाबू चुपके से उसके चौके के भीतर बिस्कुट रख आता, जब वह नहाती तब लकड़ी से उसकी सूखी धोती नीचे गिरा देता। इस प्रकार न जाने कितने दंड उसे मिलने लगे पर उसकी ओर से न क्षमा-याचना हुई और न संधि का प्रस्ताव आया। केवल वह अपने विरोध में और अधिक दृढ़ हो गयी और हमारे अपकारों का प्रतिशोध बेचारे रामा से लेने लगी। उसके साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुंठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसी से हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतबुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अंत में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ में ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे और रख दे तो स्वयं जिये कैसे! फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बंधन से मुक्ति पायी, क्योंकि वह हमारी अद्भुत सृष्टि का फिर वही चिर प्रसन्न विधाता बनकर बहू को ऐसे भूल गया जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर माँ को अन्याय का कोई भी रूप असह्य था—रामा अपनी पत्नी को हमारे पुराने खिलौनों के समान फेंक दे यह उन्हें बहुत अनुचित जान पड़ा, इसलिए रामा को कर्तव्य-ज्ञान संबंधी विशद और जटिल उपदेश मिलनें लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पड़ती थी जो उस विद्यार्थी में मिलती है जिसे पिता के स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पड़ता है।

उस बार जाकर फिर लौटना संभव न हो सका। बहुत दिनों के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है, माँ ने रुपये भेजे, आने के

लिए पत्र लिखा पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हे बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उड़ने वाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी, मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी-लाल झंडी दिखाने वाले के बिना उसका चलना, ठहरना संभव नहीं हो सकता था, मुझे गुड़िया का विवाह करना था, पर पुरोहित और प्रबंधक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी संख्या चार तक पहुँचाने वाला छोटे भइया ढाई वर्ष का हो चुका था और हमारे निर्माण को ध्वंस बनाने के अभ्यास में दिनों-दिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौने के बीच में प्रतिष्ठित कर हम सब बारी-बारी से रामा की कथा सुनाने के उपरांत कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बाँधकर लाठी लिये हुए लौटेगा तब तुम गड़बड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिए भी रामा कभी न लौटा।

आज मैं इतनी बड़ी हो गयी हूँ कि राजा भइया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना जैसी जान पड़ती हैं और खिलौने के संसार का सौंदर्य भ्रांति हो गया है। पर रामा आज भी सत्य है, सुंदर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक, निस्तंद्र पर स्नेहतरल।

●

बाज़ार दर्शन

जैनेन्द्रकुमार

एक वार की वात कहता हूँ। मित्र वाजार गये तो थे कोई एक मामूली चीज लेने, पर लौटे तो एकदम बहुत-से बंडल पास थे।

मैंने कहा—यह क्या ?

बोले—यह जो साथ थीं।

उनका आशय था कि यह पत्नी की महिमा है। उस महिमा का मैं कायल हूँ। आदि काल से इस विषय में पति से पत्नी की ही प्रमुखता प्रमाणित है। और यह व्यक्तित्व का प्रश्न नहीं, स्त्रीत्व का प्रश्न है। स्त्री माया न जोड़े, तो क्या मैं जोड़ूँ ? फिर भी सच-सच है और वह कि इस बात में पत्नी की ओट ली जाती है। मूल में एक और तत्त्व की महिमा सविशेष है। वह तत्त्व है मनीवेग, अर्थात् पैसे की गर्मी या एनर्जी।

पैसा पावर है। पर उसके सबूत में आस-पास माल-टाल न जमा हो तो क्या वह खाक पावर है। पैसे को देखने के लिए बैंक-हिसाब देखिये, पर माल-असबाव, मकान-कोठी तो अनदेखे भी दीखते हैं। पैसे की उस 'पर्चेजिंग पावर' के प्रयोग में ही पावर का रस है।

लेकिन नहीं। लोग संयमी भी होते हैं। वे फ़िजूल-सामान को फ़िजूल समझते हैं। वे पैसा बहाते नहीं हैं और बुद्धिमान् होते हैं। बुद्धि और संयमपूर्वक वह पैसे को जोड़ते जाते हैं, जोड़ते जाते हैं। वह पैसे की पावर को इतना निश्चय समझते हैं कि उसके प्रयोग की परीक्षा उन्हें दरकार नहीं है। बस खुद पैसे से जुड़ा होने पर उनका मन गर्व से भरा फूला रहता है।

मैंने कहा—यह कितना सामान ले आये !

मित्र ने सामने मनीबेग फैला दिया, कहा—यह देखिये। सब उड़ गया, अब जो रेल-टिकट के लिए भी बचा हो।

मैंने तब तय माना कि और पैसा होता तो और सामान आता। वह सामान जरूरत की तरफ़ देखकर नहीं आया, अपनी 'पर्चेजिंग पावर' के अनुपात में आया है।

लेकिन ठहरिये। इस सिलसिले में एक और भी महत्त्व का तत्त्व है, जिसे नहीं भूलना चाहिए। उसका भी इस करतव में बहुत कुछ हाथ है। वह महत्तत्त्व है, बाज़ार।

मैंने कहा—यह इतना कुछ नाहक ले आये!

मित्र बोले—कुछ न पूछो। बाजार है कि शैतान का जाल है? ऐसा सजा-सजाकर माल रखते हैं कि बेहया ही हो जो न फँसे।

मैंने मन में कहा, ठीक। बाज़ार आमंत्रित करता है कि आओ मुझे लूटो और लूटो। सब भूल जाओ, मुझे देखो। मेरा रूप और किसके लिए है? मैं तुम्हारे लिए हूं। नहीं कुछ चाहते हो, तो भी देखने में क्या हरज है। अजी आओ भी।

इस आमंत्रण में यह खूबी है कि आग्रह नहीं है। आग्रह तिरस्कार जगाता है। लेकिन ऊंचे बाज़ार का आमंत्रण मूक होता है और उससे चाह जगती है। चाह मतलब अभाव। चौक बाज़ार में खड़े होकर आदमी को लगने लगता है कि उसके अपने पास काफ़ी नहीं है। और चाहिए, और चाहिए। मेरे यहाँ कितना परिमित है और यहाँ कितना अतुलित है। ओह!

कोई अपने को न जाने तो बाज़ार का यह चौक उसे कामना से विकल बना छोड़े। विकल क्यों, पागल। असंतोष और तृष्णा और ईर्षा से घायलकर मनुष्य को सदा के लिए बेकार बना डाल सकता है।

एक और मित्र की बात है। वह दोपहर के पहले के गये-गये बाज़ार से कहीं शाम को वापिस आये। आये तो खाली हाथ!

मैंने पूछा—कहाँ रहे?

बोला—बाज़ार देखते रहे।

मैंने कहा—बाज़ार का देखते क्या रहे ?

बोले—क्यों ? बाज़ार—

तब मैंने कहा—लाये तो कुछ नहीं !

बोले—हाँ। पर यह समझ न आता था कि न लूँ तो क्या ? सभी कुछ तो लेने को जी होता था। कुछ लेने का मतलब था शेष सब कुछ को छोड़ देना। पर मैं कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता था। इससे मैं कुछ भी नहीं ले सका।

मैंने कहा—खूब !

पर मित्र की बात ठीक थी। अगर ठीक पता नहीं है कि क्या चाहते हो तो सब ओर की चाह तुम्हें घेर लेगी। और तब परिणाम त्रास ही होगा, गति नहीं होगी, न कम।

बाज़ार में एक जादू है। वह जादू आँख की राह काम करता है। वह रूप का जादू है। पर जैसे चुंबक का जादू लोहे पर ही चलता है, वैसे ही इस जादू की भी मर्यादा है। जेब भरी हो, और मन खाली हो, ऐसी हालत में जादू का असर खूब होता है। जेब खाली पर मन भरा न हो, तो भी जादू चल जायगा। मन खाली है तो बाज़ार की अनेकानेक चीजों का निमंत्रण उस तक पहुँच जायगा। कहीं हुई उस वक्त जेब भरी तब तो फिर वह मन किसकी मानने वाला है ! मालूम होता है यह भी लूँ, वह भी लूँ। सभी सामान ज़रूरी और आराम को बढ़ाने वाला मालूम होता है। पर यह सब जादू का असर है। जादू की सवारी उतरी कि पता चलता है कि फैंसी चीजों की बहुतायत आराम में मदद नहीं देती, बल्कि खलल ही डालती है। थोड़ी देर को स्वाभिमान ज़रूर सेंक मिल जाता है। पर इससे अभियान की गिल्टी को और खुराक ही मिलती है। जकड़ रेशमी डोरी की हो तो रेशम के स्पर्श के मुलायम होने के कारण क्या वह कम जकड़ होगी ?

पर उस जादू की जकड़ से बचने का एक सीधा-सा उपाय है। वह यह है कि बाज़ार जाओ तो मन खाली न हो। मन खाली हो, तब बाज़ार

न जाओ। कहते हैं लू में जाना हो तो पानी पीकर जाना चाहिए। पानी भीतर हो, लू का लूपन व्यर्थ हो जाता है। मन लक्ष्य में भरा हो तो बाज़ार भी फैला का फैला ही रह जायगा। तब वह घाव बिल्कुल नहीं दे सकेगा, बल्कि कुछ आनंद ही देगा। तब बाज़ार तुमसे कृतार्थ होगा, क्योंकि तुम कुछ न कुछ सच्चा लाभ उसे दोगे। बाज़ार की असली कृतार्थता है आवश्यकता के समय काम आना।

यहाँ एक अंतर चीन्ह लेना बहुत जरूरी है। मन खाली नहीं रहना चाहिए, इसका मतलब यह नहीं है कि वह मन बंद रहना चाहिए। जो बंद हो जायगा, वह शून्य हो जायगा। शून्य होने का अधिकार बस परमात्मा का है जो सनातन भाव से संपूर्ण है। शेष सब अपूर्ण है। इससे मन बंद नहीं रह सकता। सब इच्छाओं का निरोध कर लोगे, यह झूठ है। और अगर 'इच्छानिरोधस्तपः' का ऐसा ही नकारात्मक अर्थ हो तो वह तप झूठ है। वैसे तप की राह रेगिस्तान को जाती होगी, मोक्ष की राह वह नहीं है। डाट देकर मन को बंदकर रखना पड़ता है। लोभ का यह जीतना नहीं है कि जहाँ लोभ होता है, यानी मन में, वहाँ नकार हो। यह तो लोभ की ही जीत है और आदमी की हार। आँख अपनी फोड़ डाली, तब लोभनीय के दर्शन से बचे तो क्या हुआ? ऐसे क्या लोभ मिट जायगा? और कौन कहता है कि आँख फूटने पर रूप दीखना बंद हो जायगा? क्या आँख बंद करके ही हम सपने नहीं लेते हैं? और वे सपने क्या चैन भंग नहीं करते हैं? इससे मन को बंद कर डालने की कोशिश तो अच्छी नहीं। वह अकारथ है। यह तो हठवाला योग है। शायद हठ ही हठ है, योग नहीं है। इससे मन कृश भले ही हो जाय और पीला और अशक्त जैसे विद्वान् का ज्ञान। वह मुक्त ऐसे नहीं होता। इससे वह व्यापक की जगह संकीर्ण और विराट् की जगह क्षुद्र होता है। इसलिए उसका रोम-रोम मूँदकर बंद तो मन को करना नहीं चाहिए। वह मन पूर्ण कब है? हमसे पूर्णता होती तो परमात्मा से अभिन्न हम महाशून्य ही न होते? अपूर्ण हैं, इसीसे हम हैं। सच्चा ज्ञान सदा इसी अपूर्णता के बोध को हममें गहरा करता है। सच्चा

कर्म सदा इस अपूर्णता की स्वीकृति के साथ होता है। अतः उसका कोई वही हो सकता है जो बलात् मन को रोकने को न कहे, जो मन की भी इसलिए सुने क्योंकि वह अप्रयोजनीय रूप में हमें नहीं प्राप्त हुआ है। हाँ, मनमानेपन की छूट मन को न हो, क्योंकि वह अखिल का अंग है, खुद कुल नहीं है।

पड़ोस में एक महानुभाव रहते हैं जिनको लोग भगतजी कहते हैं। चूरन बेचते हैं। यह काम करते जाने उन्हें कितने बरस हो गये हैं। लेकिन किसी एक भी दिन चूरन से उन्होंने छः आने पैसे से ज्यादे नहीं कमाये। चूरन उनका आस--पास सरनाम है। और खुद खूब लोकप्रिय हैं। कहीं व्यवसाय का गुर पकड़ लेते और उस पर चलते तो आज खुशहाल क्या मालामाल होते। क्या कुछ उनके पास न होता! इधर सदा वर्षों से मैं देख रहा हूँ, उनका चूरन हाथों-हाथ जाता है। पर वह न उसे थोक देते हैं, न व्यापारियों को बेचते हैं। पेशगी आर्डर कोई नहीं लेते। बँधे वक्त पर अपनी चूरन की पेटी लेकर घर से बाहर हुए नहीं कि देखते-देखते छः आने की कमाई उनकी हो जाती है। लोग उनका चूरन लेने को उत्सुक जो रहते हैं। चूरन से भी अधिक शायद वह भगतजी के प्रति अपनी सद्भावना का देय देने को उत्सुक रहते हैं। पर छः आने पूरे हुए नहीं कि भगतजी बाकी चूरन बालकों को मुफ्त बाँट देते हैं। कभी ऐसा नहीं हुआ कि कोई उन्हें पच्चीसवाँ पैसा भी दे सके! कभी चूरन में लापरवाही नहीं हुई है, और कभी रोग होता भी मैंने उन्हें नहीं देखा है।

और तो नहीं, लेकिन इतना मुझे निश्चय मालूम होता है कि इन चूरन वाले भगतजी पर बाज़ार का जादू नहीं चल सकता।

कहीं आप भूल न कर बैठियेगा। इन पंक्तियों को लिखने वाला मैं चूरन नहीं बेचता हूँ। जी नहीं, ऐसी हलकी बात भी न सोचियेगा। यह न समझियेगा कि लेख के किसी भी मान्य पाठक से उस चूरन वाले को श्रेष्ठ बताने की मैं हिम्मत कर सकता हूँ। क्या जानें उस भोले आदमी को अक्षर-ज्ञान तक भी है या नहीं। और बड़ी बातें तो उसे मालूम क्या

होगी। और हम आप न जाने कितनी बड़ी-बड़ी बातें जानते हैं। इससे यह तो हो सकता है कि वह चूरन वाला भगत हम लोगों के सामने एकदम नाचीज़ आदमी हो। लेकिन आप पाठकों की विद्वान् श्रेणी का सदस्य होकर भी मैं यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि उस अपदार्थ प्राणी को वह प्राप्त है जो हममें से बहुत कम को शायद प्राप्त है। उस पर बाज़ार का जादू वार नहीं कर पाता। माल बिछा रहता है, और उसका मन अडिग रहता है। पैसा उसके आगे होकर भीख तक माँगता है कि मुझे लो। लेकिन उसके मन में पैसे पर दया नहीं समाती। वह निर्मम व्यक्ति पैसे को अपने आहत गर्व में बिलखता ही छोड़ देता है। ऐसे आदमी के आगे क्या पैसे की व्यंग-शक्ति कुछ भी चलती होगी ? क्या वह शक्ति कुंठित रहकर सलज्ज ही न हो जाती होगी ?

पैसे की व्यंग-शक्ति की सुनिये। वह दारुण है। मैं पैदल चल रहा हूँ कि पास ही धूल उड़ाती निकल गयी मोटर। वह क्या निकली मेरे कलेजे को कोंधती एक कठिन व्यंग की लीक ही आर-से-पार हो गयी। जैसे किसी ने आँखों में उँगली देकर दिखा दिया हो कि देखो, उसका नाम है मोटर, और तुम उससे वंचित हो ! यह मुझे अपनी ऐसी विडंबना मालूम होती है कि बस पूछिये नहीं। मैं सोचने को हो आता हूँ कि हाय, ये ही माँ-बाप रह गये थे जिनके यहाँ मैं जन्म लेने को था ! क्यों न मैं मोटर वालों के यहाँ हुआ ! उस व्यंग में इतनी शक्ति है कि जरा में मुझे अपने सगों के प्रति कृतघ्न कर सकती।

लेकिन क्या लोकवैभव की यह व्यंग-शक्ति उस चूरन वाले अकिंचित्कर मनुष्य के आगे चूर-चूर होकर ही नहीं रह जाती ? चूर-चूर क्यों, कहो पानी-पानी।

तो वह क्या बल है जो इस तीखे व्यंग के आगे अजेय ही नहीं रहता, बल्कि मानों उस व्यंग की क्रूरता को ही पिघला देता है ?

उस बल को नाम जो दो; पर वह निश्चय उस तल की वस्तु नहीं है जहाँ पर संसारी वैभव फलता-फूलता है। वह कुछ ऊपर जाति का तत्त्व

है। लोग स्पिरिचुअल कहते हैं; आत्मिक, धार्मिक, नैतिक कहते हैं। मुझे योग्यता नहीं कि मैं उन शब्दों में अंतर देखूं और प्रतिपादन करूँ। मुझे शब्द से सरोकार नहीं। मैं विद्वान् नहीं कि शब्दों पर अटकूं। लेकिन इतना तो है कि जहाँ तृष्णा है बटोर रखने की स्पृहा है, वहाँ उस बल का बीज नहीं है। बल्कि यदि उसी बल को सच्चा बल मानकर बात की जाय तो कहना होगा कि संचय की तृष्णा और वैभव की चाह में व्यक्ति की निर्बलता ही प्रमाणित होती है। निर्मल ही धन की ओर झुकता है। वह अबलता है। वह मनुष्य पर धन की और चेतन पर जड़ की विजय है।

एक बार चूरन वाले भगतजी बाज़ार चौक में दीख गये। मुझे देखते ही उन्होंने जय-जयराम किया। मैंने भी जयराम कहा। उनकी आँखें बंद नहीं थीं और न उस समय वह बाज़ार को किसी भाँति कोस रहे मालूम होते थे। राह में बहुत लोग, बहुत बालक मिले जो भगतजी द्वारा पहचाने जाने के इच्छुक थे। भगतजी ने सबको ही हँसकर पहचाना। सबका अभिवादन लिया और सबको अभिवादन दिया। इससे तनिक भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि चौक बाज़ार में होकर उनकी आँखें किसी से भी कम खुली थीं। लेकिन भौंचक्के हो रहने की लाचारी उन्हें नहीं थी। व्यवहार में पशोपेश उन्हें नहीं था और खोये-से खड़े नहीं वह रह जाते थे। भाँति-भाँति के बढ़िया माल से चौक भरा पड़ा है। उस सबके प्रति अप्रीति इन भगत के मन में नहीं है। जैसे उस समूचे माल के प्रति भी उनके मन में आशीर्वाद हो सकता है। विद्रोह नहीं, प्रसन्नता ही भीतर है, क्योंकि कोई रिक्त भीतर नहीं है। देखता हूँ कि खुली आँख, तुष्ट और मग्न, वह चौक बाज़ार में से चलते चले जाते हैं। राह में बड़े-बड़े फैंसी स्टोर पड़ते हैं, पर पड़े रह जाते हैं। कहीं भगत नहीं रुकते। रुकते हैं तो एक छोटी पंसारी की दुकान पर रुकते हैं। वहाँ दो-चार अपने काम की चीज लीं, और चले आते हैं। बाजार से हठ-पूर्वक विमुखता उनमें नहीं है; लेकिन अगर उन्हें जीरा और काला नमक चाहिए तो सारे चौक बाज़ार की सत्ता उनके लिए तभी तक है, तभी तक उपयोगी है, जब तक वहाँ ज़ीरा मिलता है। जरूरत

भर ज़ीरा वहाँ से ले लिया कि फिर सारा चौक उनके लिए आसानी ने नहीं बराबर हो जाता है। वह जानते हैं कि जो उन्हें चाहिए वह है ज़ीरा-नमक। बस इस निश्चित प्रतीति के बल पर शेष सब चाँदनी चौक का आमंत्रण उन पर व्यर्थ होकर बिखर रहता है। चौक की चाँदनी दाएँ-बाएँ भूखी-की-भूखी फैली रह जाती है; क्योंकि भगतजी जी को ज़ीरा चाहिये वह तो कोने-वाली पंसारी की दुकान से मिल जाता है और वहाँ से सहज भाव में ले लिया गया है। इसके आगे आस-पास अगर चाँदनी बिछी रहती है तो बड़ी खुशी से बिछी रहे, भगतजी उस बेचारी का कल्याण ही चाहते हैं।

यहाँ मुझे ज्ञात होता है कि बाज़ार को सार्थकता भी वही मनुष्य देता है जो जानता है कि वह क्या चाहता है। और जो नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, अपनी 'पर्चेजिंग पावर' के गर्व में अपने पैसे से केवल एक विनाशक शक्ति—शैतानी-शक्ति, व्यंग की शक्ति ही बाज़ार को देते हैं। न तो वे बाज़ार से लाभ उठा सकते हैं, न उस बाज़ार को सच्चा लाभ दे सकते हैं। वे लोग बाज़ार का बाजाररूपन बढ़ाते हैं। जिसका मतलब है कि कपट बढ़ाते हैं। कपट की बढ़ती का अर्थ परस्पर में सद्भाव की घटी। इस सद्भाव के ह्रास पर आदमी आपस में भाई-भाई और सुहृद और पड़ोसी फिर रह ही नहीं जाते हैं और आपस में कोरे गाहक और बेचक की तरह व्यवहार करते हैं। मानों दोनों एक-दूसरे को ठगने की घात में हों। एक की हानि में दूसरे को अपना लाभ दीखता है और यह बाज़ार का, बल्कि इतिहास का, सत्य माना जाता है। ऐसे बाज़ार को बीच में लेकर लोगों में आवश्यकताओं का आदान-प्रदान नहीं होता, बल्कि शोषण होने लगता है। तब कपट सफल होता है, निष्कपट शिकार होता है। ऐसा बाज़ार मानवता के लिए विडंबना है। और जो ऐसे बाज़ार का पोषण करता है, जो उसका शास्त्र बना हुआ है, वह अर्थ-शास्त्र सरासर औंधा है। वह मामावी (Capitalistic) शास्त्र है। वह अर्थ-शास्त्र अनीति-शास्त्र है।

●

गिलहरी

कुट्टिचातन

गिलहरी ने अपनी पीठ की धारियाँ रामजी की मदद करने जाकर उनकी उँगलियों की छाप से पायी हों या नहीं, उन धारियों से उसका फुर्तीला तनु और सुंदर जरूर हो गया है, यद्यपि वह फूल-फूली, इतराती मान-भरी पूँछ न होती तो रामजी की दी हुई धारियाँ भी कहाँ तक उसके रूप को बनाये रखतीं इसमें संदेह है।

रामजी वाली कहानी तो बहुत बचपन में पढ़ी थी। गिलहरी की फुर्ती का आकर्षण भी तभी से था, कुछ कम हुआ तो बरसों बाद जब गिलहरी का नाम 'कट्टो' सुना और वह भी वास्तविक गिलहरी के बखान में नहीं, एक फुर्तीली लड़की पर रोपा हुआ। कट्टा पंजाबी में भैंस के बछड़े को कहते हैं, 'हट्टा-कट्टा' में भी उस ध्वनि का भदभद-पन ही उभरता है। लेकिन नामों को लेकर एक उलझन बरसों पहले खड़ी हुई थी, उसकी छाप अभी तक है।

कॉलेज में भरती होने जा रहा था। उससे पहले घर की छाया से अलग नहीं रहा था, पढ़ा बहुत था लेकिन उस पढ़ाई को जीवन के साथ—जीवन तो दूर, जीवन के पर्यवेक्षण के साथ भी—जोड़ने की ओर ध्यान नहीं गया था। रास्ते में गाड़ी बदलनी पड़ती थी, प्लेटफार्म पर सामान जमाये बिस्तर पर बैठा था। कुछ दूर पर एक और लड़का टहल रहा था। ढंग एँग्लो-इंडियन, लेकिन चेहरा कुछ अतिरिक्त चौड़ा, कल्ले उभरे हुए और नाक चपटी—'एँग्लो'—को तो स्पष्ट माना जा सकता था पर इंडियन' उतना नहीं था। सहसा मेरे पास आकर बोला, 'गिलहरी लेना चाहोगे—

पालने के लिए ?' और साथ ही जेब से एक सुंदर ललौंही भूरी बड़ी गिलहरी उसने निकालकर मेरे सामने रख दी।

मैंने बिना धारियों की लाल गिलहरी देखी नहीं थी। अँग्रेजी पुस्तकों के रंगीन चित्रों में देखी थी जरूर, पर रंगीन चित्रों का क्या भरोसा, फिर उनका जिनमें झींगुरों की पीठ पर सवार होकर परियाँ उड़ती हों ? उनको देखकर गिलहरी भी लीक छोड़ बैठे या लाल हो आये तो क्या अचंभा ?

उसने कहा, 'अभी बच्चा है, और बड़ी होगी। इस ड्रापर से दूध पिलाता हूँ।' और उसने दूसरी जेब से एक ड्रापर भी निकाला, जैसे ड्रापर से 'झरना-कलमों' के आरंभिक दिनों में उनमें स्याही भरी जाती थी, ड्रापर के आगे एक पतली-सी रबर की नली लगी हुई थी, जिसे दोनों हाथों से पकड़कर गिलहरी दूध चूसती थी।

मैंने कहा, 'इतनी बड़ी—और लाल ? कहाँ से लाये ? हमारे यहाँ तो गिलहरी छोटी और धारीदार होती है—'

उसने बात काटकर कहा, 'बर्मा से लाया हूँ—वहाँ से यहाँ आ गये हैं हम लोग। पर मैं पहाड़ पर जा रहा हूँ, वहाँ शायद यह मर जाय, इसलिए दे देना चाहता हूँ—मुफ्त—जो कोई पाले। है न ब्यूटी ?' फिर सहसा स्वर बदलकर बोला, 'तुम्हारे देश में गिलहरी होती कहाँ हैं ? जिसे तुम गिलहरी कहते हो वह तो ट्री-रैट है—तरुवासी चूहा !'

उससे गिलहरी मैंने नहीं ली, क्योंकि मुझे भी संदेह था कि मुझसे पल जायगी—फिर कॉलेज के बोर्डिंग में—पर असल बात वह नहीं है। असल बात यह है कि अँग्रेजी में लाल वाली गिलहरी 'स्क्विरल', या अमेरीकी 'स्क्वल' होती हैं, और हमारी गिलहरी केवल तरुवासी चूहा (ट्री-रैट)। और जीव-विज्ञान के श्रेणी-विभाजन में भी हमारी गिलहरी चूहों के साथ 'कुरेदने वाले जानवरों' (रोडेंट, रोडेंशिया) में आती है।

अँग्रेजी कहावत ठीक ही कहते हैं—'नाम में क्या रखा है ?' और यह वैज्ञानिक नामकरण वाली बात और भी बेढब है। आलू और बैंगन, टमाटर और भटकटैया एक जाति के हैं, गुलाब और नाशपाती एक जाति के,

और—शायद मसूर की दाल और सिरिस एक जाति के—क्योंकि दोनों में छीमी आती है। ह्वेल मच्छ और छछूंदर एक जाति के नहीं तो एक कोटि के अवश्य हैं, क्योंकि दोनों स्तनपायी हैं; हाँ, साहब, हम आप भी उसी छछूंदर वाली कोटी के हैं, वैज्ञानिक प्रमाण है। एक मेरे परिचित थे, कुछ सनकी; नाम था टोगो; कविता नहीं करते थे लेकिन तबीयत शायराना थी; एक दिन बोले कि 'क्या फर्क है, मेरा नाम टोगो है, उनका टैगोर है—' महायुद्ध का जमाना था, मुझे एक जापानी सेनानायक का नाम याद आया, मैंने कहा, 'आपका नाम टोगो है, उनका टोजो—क्यों न आप कमांडर-इन-चीफ हो जावें?' तो मेरी गुस्ताखी पर बिगड गये, 'तुम बड़े बदतमीज हो।' सोचता हूँ, वह ऐसा न कहकर अगर कहते, 'तुम अवैज्ञानिक हो।' तो मैं क्या कहता? जब कि शिक्षितों के बीच में बैठने के लिए मेरे पास कोई सनद नहीं है सिवाय एक सायंस की डिग्री के। एक और हमारे परिचित हैं, जिन्होंने बड़ा आग्रह करके कविगुरु रविन्द्रनाथ ठाकुर के साथ बैठकर फोटो खिचवाया है, और अब संपूर्ण आश्वस्त भाव से अपने को एशिया का प्रमुख कवि मानते हैं—कोई चाहे तो दाढ़ियाँ माप ले सकता है। ठाकुर ने बाउल, भाटियाली, झूमुर आदि लोक-धुनों को अपनाकर गीत लिखे थे, सुना है उनके गीतों की संख्या एक लाख से ऊपर है; हमारे परिचित महोदय ने तीन लाख लोक-गीतों का संग्रह किया है। कैसे का प्रश्न नहीं; यह सम-कोटित्व का एक और आधार है। सोचता हूँ, इस वैज्ञानिक समीकरण की सूचना उन्हें दे देनी चाहिए, क्योंकि वह स्वयं जो मानते हैं, उसका दावा करते समय कभी-कभी अनावश्यक कसर-नफ्सी दिखाने लगते हैं। जिस बात का वैज्ञानिक आधार मौजूद है, उसको कहने में झेंप कैसी? यह मुंह और मसूर की दाल? जी हाँ, और वह मुंह और सिरिस का फूल। तो फिर?

कविगुरु के नाम से बंगला की बात याद आ गयी। अँग्रेज में जो ट्री-रैट (यानी पेड़ का चूहा) है, बंगला में उसे काठ-बिडाली कहते हैं, यानी पेड़ की बिल्ली। अब लीजिए। बिल्ली कि चूहा? अँग्रेजों ने तो वैज्ञानिक

नामकरण की आड़ खड़ी कर ली, और बंगला? यों स्वभावों की ओर ध्यान दिया जाय तो मैं समझता हूँ, बंगला नाम देने वाले को अवैज्ञानिक होने की परवाह न होती, अरसिक या अकवि होने का अधिक डर होता; पर मुझे तो काठ-बिडाली नाम में रसिकता भी नहीं दीखती। यह हो सकता है कि इतराने वालियाँ सब बिल्लियाँ होती हों, मगर रसिक रहस्य में हमारी इतनी गहरी पैठ नहीं है कि इस दूर की कौड़ी को हम पहचान सकें।

बाद में दो-एक बार गिलहरी पालने का अवसर मुझे भी हुआ। लेकिन पालने का साहस करने से पहले बहुत दिनों तक उनकी आदतों का अध्ययन किया और अगर कहूँ कि उस अध्ययन से मानव-स्वभाव के बारे में भी नयी दृष्टि मुझे मिली तो यह न समझा जाय कि मैं भी निरे वैज्ञानिक नामकरण के सहारे कोई ढोंग रच रहा हूँ—क्योंकि गिलहरी और मानव दोनों स्तनपायी हैं।

कुछ समय जेल में रहना पड़ा था। जेल के साथियों को आदमी नयी दृष्टि से देखता है, ठीक है; पर कुछ समय बाद मानों देख लेता है, जी भर जाता है, और तब उसकी दृष्टि नये उलझाव के लिए भटकती है। किसी ऐसी ही मनोदशा में देखा, बाहर एक नीम के पेड़ पर माँ गिलहरी और दो बच्चे थे। बच्चे शायद नये-नये सैर करने निकले थे, क्योंकि उन्हें यह दुनियाँ बहुत बड़ी मालूम हो रही थी, कुछ आतंककारी भी। माँ उन्हें बढ़ावा देकर पैयाँ-पैयाँ चलना सिखा रही थी। दौड़कर ऊपर कोटर तक जाती, फिर बच्चों के पास आ जाती, फिर फुर्ती दिखाकर ऊपर जाती, मानों जता रही हो, 'यह देखो, ऐसे जाते हैं—लो, मैं तो पहुँच भी गयी-' थोड़ी देर बाद एक बच्चा फुसलाया जा सका; धीरे-धीरे, कुछ-कुछ कदम लेता हुआ, अनेक बार के प्रोत्साहन प्रलोभन-प्रदर्शन के बाद, वह बढ़कर कोटर तक गया और फिर कोटर के अंदर के अंधकार में छिप गया।

एक बेटा राजा बेटा है, यह तय करके गिलहरी फिर उतरी। लेकिन दूसरा बेटा छी-छी बेटा हो या न हो, उसे चिंता नहीं थी। वह वहीं का वहीं, पेड़ के तने के निचले हिस्से से चिपटा हुआ, अपलक ऊपर की ओर माँ को देख रहा था और टस से मस नहीं हो रहा था। माँ जब मनुहार-

मनोबल करके ऊबने लगी, तब बिल्कुल पास आकर बदन-से-बदन छुआकर फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ी : 'अच्छा पैयाँ-पैयाँ नहीं तो उँगली पकड़कर—' लेकिन नहीं। छी-छी-बेटा बहुत विकट छी-छो था। और इतने में क्या हुआ कि उसने चट से मुँह फेरा, और तेजी से नीचे की ओर दौड़ा—पेड़ से जमीन पर, जमीन पर आकर और भी तेजी से एक ओर को जहाँ पानी का कल था और जहाँ थोड़ी देर पहले दोनों बेटे शायद माँ के साथ टहलने गये थे। कल नीचे जो थाला-सा बना हुआ था, छी-छी बेटा लपककर उसकी मुंडेर पर चढ़ा, और चढ़ने के उत्साह में अंदर को जा गिरा। भीग तो गया ही, कुछ कीचड़ भी रामजी की दी हुई धारीदार ओढ़नी में लग गया। इतने में माँ भी लपकी हुई आयी, बेटे की गति देखी। बेटा यों तो बिना मदद के ही फिर मुंडेर पर चढ़ा और बाहर सूखी बलुही मट्टी पर आ गया, पर अब माँ ने अपने जबड़े में उसकी गर्दन की चमड़ी पकड़ी और उसे खींचकर ले चली तने की ओर, पेड़ के ऊपर कोटर की ओर। 'अच्छा, बदमाश, घर चल तुझे मजा दिखाती हूँ।'

मेरे लिए इतना भी कम रोचक नहीं था। लेकिन इससे आगे जो देखा, असल चीज वह है। कोटर तक पहुँचकर शिक्षा समाप्त हो गयी हो, सो नहीं हुआ। माँ गिलहरी ने छी-छी को फिर वैसे ही पकड़ा, अब की वह अटकने की कोशिश करता रहा मानों जानता हो कि क्या आने वाला है; पर माँ उसे खींचकर मुंडेर तक ले ही गयी। फिर उसने एक पंजे से छी-छी मियाँ की गर्दन पकड़कर उसका सिर ऊँचा उठाया, और दूसरे हाथ से दे तमाचा! फिर उसे खींचकर वापस ले गयी, और पेड़ पर आधा रास्ता चढ़ गयी; फिर दुबारा उतरकर घसीटती हुई कल की मुंडेर तक ले गयी और फिर वैसे ही दो-चार चाँटे रसीद किये। इस प्रकार कोटर तक ले जाने और मुंडेर तक लाकर पीटने की क्रिया तीन-चार बार हुई, और तब माँ-बेटा कोटर में चले गये। मैं मुग्ध देखता रहा, और उस गिलहरी माँ के गुस्से को साथ-साथ मौन शब्दों में बाँधता रहा। 'तो तू नहीं मानेगा, जायगा वहाँ? अच्छा चल मैं ले जाती हूँ—चल, गिर कीचड़ में, मर—अब क्यों

डरता है, चल न; क्या हाथ-पैर टूटे हैं ? बोल, फिर आयेगा ? (चाँटा) बोल; कह अब कभी नहीं आऊँगा ? (चाँटे)—कह अब शरारत नहीं करूँगा, बड़ों का कहना मानूंगा (चाँटे)…'

हम लोग जानवर पालते हैं तो उन्हें इसी तरह सिखाते हैं। जिसे हम उचित कर्म मानते हैं, उसे करने पर पुरस्कार का टुक्कड़, जिसे हम अनुचित समझते हैं उसे करने पर शास्ति, इस प्रकार सुखद और दुःखद परिणामों से ही पशु में सम्मत और निषिद्ध का ज्ञान जगाया जाता है। पर ज्ञान उसे नहीं कहना चाहिए। कहना चाहिए कि उसके स्नायविक संचालन-केंद्र पर निषिद्ध की गहरी लीकें पड़ जाती हैं। शिशु की शिक्षा भी इसी तरह होती है, प्रीतिकर और अप्रीतिकर परिणामों से ही उसे कर्माकर्म का बोध होता है। मनोवैज्ञानिकों का एक संप्रदाय यह भी कहता है कि नैतिक बोध—उचितानुचित विवेक—इससे अधिक कुछ नहीं है। लेकिन मानव का अहं इस मत को स्वीकार करना नहीं चाहता, पशु को साधा जाता है, ठीक है; शिशु भी पशुवत् होता है, अच्छा; लेकिन वयस्क मानव के लिए नीति का आधार—नैतिकता का स्रोत—इससे गहरा कुछ होना चाहिए। क्या ? न सही आत्मा; विवेक सही, बुद्धि सही; क्या जीव विकास में पशु से मानव बनने का आभ्यंतर प्रभाव कुछ भी नहीं है ? क्या यह दावा भी अहंकार ही है कि यह नैतिक बोध ही मानव को इतर जीवों से पृथक् करता है—कि मानव ही एकमात्र नीतिवान् प्राणी है, भले ही उसमें नैतिक विकास की पहली सीढ़ियों के अवशेष बाकी हों, और वह नीति-संचालित होने के साथ-साथ पशुवत् निरा सुख-लोभी परिणामवादी भी हो ? लेकिन यह तो मानना ही होगा कि मानव में कुछ मौलिक अंतर है, मानव-पूर्व सब जीव अपने को ही जैविक परिस्थिति के—जल-वायु, शीतातप, देश-काल के—अनुकूल बनाते आये, मानव ने ही परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाना चाहा, क्योंकि उसने परिस्थिति के साथ अपने संबंध को समझा। वह किस शक्ति से ? केवल एक स्नायविक केंद्र के सधे हुए आदेशों से ? रीछ और कुत्ते-बिल्ली की चमड़ी जाड़ों में लोम उगाती है, गर्मी में

लोम झर जाते हैं। मानव जाड़ों में ऊनी कपड़ा पहनता है, घर में कम्बल ओढ़कर सोता है, आग तापता है। क्या यह मन की शक्तियों के किसी मौलिक भेद का सूचक नहीं ? तीन-चार-पाँच की गिनती शायद कुछ पशु भी समझते हों--हिसावी कुत्तों और घोड़ों को लेकर बहुत बहस होती है--पर तीन बंदरों और तीन किताबों में जो त्रयत्व का संबंध है, उस सूक्ष्म गुण को पहचानने की शक्ति मानव की है। गुणी से गुण की उद्भावना करने की, युक्ति की, तर्क की, कार्य-कारण-परंपरा को समझकर, कार्य का कार्यत्व और कारण का कारणत्व पहचानने की, और संबंध का संबंधत्व देखने की क्षमता मानवीय बुद्धि की विशेषता है। और मानव बुद्धिमान् है इसीलिए वह नैतिक है, नीति का स्रोत हमें निरे सुखवाद में खोजना पड़े यह आवश्यक नहीं, मानव की बुद्धि ही उसकी नैतिकता की प्रतिज्ञा है।

लेकिन बात गिलहरी की थी। और यहाँ वाद-विवाद में फँस गये हैं इसलिए दुहरा लें कि हमारी गिलहरी की, उसे और कोई चाहे जो कहता हो। मैं कहने जा रहा था कि मेरी गिलहरी की, लेकिन मेरी तो हमारी से भी विशिष्ट है। मेरी गिलहरी तो वह हुई जिसे मैंने पाला था। और वह जब ऐसी एकांतविशिष्ट है, तब उसकी बात शायद अलग कभी करनी चाहिए। गिलहरी, यानी हमारी गिलहरी, भारतीय गिलहरी या कह लीजिए कि राम जी की गिलहरी, क्योंकि विलायती लाल गिलहरी पर रामजी ने हाथ फेरा होता तो क्या उस पर धारियाँ न होतीं ?

जिससे परिणाम निकलता है कि रामजी भारतवासी थे और भारत पुण्यभूमि है, नहीं तो विलायत में सादी लाल गिलहरी और यहाँ धारीदार क्यों होती ? और देख लीजिए, यह मानव से युक्तिवाद का एक और नमूना है—मेरा इस युक्ति पर विशेष आग्रह नहीं, लेकिन आज देश में ऐसे दलील-बाज कम नहीं हैं। उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ, और प्रार्थना करता हूँ कि रामजी कभी उनकी पीठ पर भी हाथ फेर दें– लेकिन फेरें जरा करारा हाथ, कि रंगीन धारियाँ नहीं, लासें उभर आयें !

●

सपने मैंने भी देखे हैं

अज्ञेय

मेरी एक कविता है, 'सपने मैंने भी देखे हैं'। उसमें कुछ उन स्वप्नों का चित्र खींचने की भी कोशिश की गयी है। पर अभी निरे रंगीन सपनों की बात क्या करनी ? पाठक के सपने जरूर मेरे सपनों से ज्यादा रंगीन होंगे —मेरे सपनों के रंग धुंधले भी तो पड़ गये हैं।

कहते हैं कि अच्छी नींद वह होती है जिसमें सपने नहीं आते। मैं तो अच्छी ही नींद सोता हूँ। कभी सपने आते भी हैं तो याद नहीं रहते, सबेरे कुछ ध्यान रहता है कि अच्छा-सा सपना देखा था, पर क्या, यह याद नहीं आता। बस अच्छाई की जो छाप रहती है, उसीको लिये दिन· भर काट देता हूँ।

बचपन के सपने भी कुछ ऐसे ही होते हैं : जब जागें तो सपने की मिठास बनी रहे, और कुछ याद रहे या न रहे—यही तो चाहिए ! अपनी कहूँ तो आपको एक रहस्य की बात बता दूँ मुझमें वह मिठास तो बनी ही हुई है; उसी के कारण मैंने यह सोच लिया है कि असल में मेरा सबसे बढ़िया सपना वह है जो मैं अब देखूंगा। आज देखूंगा कि कल देखूंगा कि परसों, यह तो कोई सवाल नहीं है; देखूंगा, बस, यह विश्वास चाहिए और इसी के सहारे मैं जीवन में बराबर नयी स्फूर्ति और उमंग लेकर आगे बढ़ा चलता हूँ। यह भी सवाल नहीं है कि वह सपना सोकर देखूंगा कि जागते-जागते देखूंगा। क्योंकि असल में सच्ची शक्ति उन्हीं सपनों में होती है जो जागते-जागते देखे जाते हैं। नींद में देखे हुए सपने तो छाया

से आकर चले जाते हैं; जो सपने हम जागते-जागते देखते हैं वे हमारे जीवन पर छा जाते हैं, उसे आगे चलाते हैं, उसे दिशा और गति देते हैं। आपने सुना है, कोई-कोई बच्चे नींद में उठकर चलने लगते हैं, और नींद में ऐसे-ऐसे काम कर लेते हैं जो जागते हुए उनसे कभी न बन पड़ते ? जैसे नसैनी चढ़ जाना, या किसी खतरनाक मुंडेर पर से हो गुजरना— यह सब कैसे होता है ? सपने की ताकत से। उसी तरह जो सपने हम जागते-जागते देखते हैं, वे हमें ऐसे काम करने की शक्ति दे देते हैं जो हमसे बिना उस शक्ति के कभी न हो सकते। ये जागते स्वप्न असल में आदर्श होते हैं जिन पर हम चलते हैं : ऐसे स्वप्न एक आदमी भी देखता है, समाज भी देखता है, समूचे देश और राष्ट्र भी देखते हैं। स्वाधीनता का स्वप्न जब सारे भारतवर्ष पर छा गया था, तभी तो उसमें इतनी शक्ति आयी थी कि बिना रक्तपात के वह स्वाधीन हो जाय और एक विशाल लोकतंत्र स्थापित कर ले—संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्र।

बरसों हुए हमारे पड़ोस में एक बच्चा रहता था। बच्चों से अकसर लोग पूछा करते हैं, 'तुम बड़े होकर क्या बनोगे ?' वैसे ही इससे भी पूछते थे। और वह हमेशा एक ही जवाब देता था जिस पर सब हँसते थे : 'मैं बड्डा बणना ए"—मैं बड़ा बनूंगा। पर सोचकर देखें तो हँसने की बात इसमें कुछ नहीं है। बात यह है कि यही उसका सपना था। और सपना इसलिए था कि उसे बात-बात पर टोका जाता था कि 'बड़े होकर यह करना', 'बड़े होकर वह लेना', 'बड़े होकर यह समझोगे', वगैरह। उसने समझ लिया कि बड़ा हो जाना ही सब समस्याओं का हल है—बड़े होते ही सब अड़चनें दूर हो जायेंगी, तब ताकत मिल जायेगी, सब चीजें सुलभ हो जायेंगी। जो बनने में कुछ भी बनना संभव हो जाये, वही तो बनना चाहिए। बच्चे से कभी पूछें कि तुम यह लोगे कि वह, तो वह सीधा जवाब थोड़े ही देता है ? कहता है, "दोनों – सब।"

एक और हमारे पड़ोसी भाई को रट लगी रहती थी कि कोई उन्हें झाड़ू बना दे, वह मेहतर बनेंगे। और जिद पर मचलते थे तो घंटों धूल

में बैठे यही दुहराते रहते थे। यह इसलिए कि पहले मेहतर के आने पर उन्हें कमरे में बंद कर दिया जाता था कि धूल से बचे रहें ! और हजरत कमरे में बैठे झाड़ू का शब्द सुना करते थे और कल्पना किया करते थे कि मेहतर होना ही मुक्त होना है।

और अब अपनी सुनाऊँ ? हँसियेगा मत ! मेरा सपना यह था कि मैं एक पोटली कंधे की लाठी में लटकाये चला जा रहा हूँ—कहाँ ? कहाँ का क्या सवाल, बस चला जा रहा हूँ और अनंत काल तक चलता जाऊँगा। मुझे घुमक्कड़ी पसंद थी, शहर हो कि जंगल, नदी-नाले कि पहाड़, समुद्र कि रेगिस्तान कि तीर्थ-स्थल कि पुराने खँडहर। कभी पैदल, कभी घोड़े पर, कभी तांगे-बैलगाड़ी में, कभी ऊँटगाड़ी या शिकरम पर—मोटर का कभी ध्यान नहीं होता था, मोटर में तब तक बैठा भी नहीं था। बस वह लाठी साथ और पोटली साथ; पोटली में एक कंबल हो जिसे लाठी पर टाँग कर रात के लिए तम्बू बना लिया जाये, एक जोड़ी कपड़ा बदलने के लिए; एक कापी और पेंसिल लिखने और तस्वीरें बनाने के लिए; एक गिलास, एक चाकू, एक छोटी कुल्हाड़ी, थोड़ी-सी रस्सी, और, हाँ, दो-एक सेब या नारंगियाँ। और अब बताने ही पर आया हूँ तो हँसने की बात भी बता ही दूँ : इस सपने को यथार्थ रूप देने के लिए मैंने एक लाठी और पोटली तैयार करके छिपाकर रख भी छोड़ी थी ! लाठी तो मैंने खुद काट-छाँटकर बनायी थी; चाकू और छोटी कुल्हाड़ी जन्म-दिनों पर उपहार मिली थीं (उपहार भी क्या मिली थीं, निहोरे करके भेंट करा ली थीं)—सवाल कंबल का था : घर से माँगने पर तो पोल खुल जाती ! उसका उपाय संयोगवश निकल आया। एक छोटा लड़का हमारे यहाँ नौकर रहा; पिताजी ने उसे एक पुराना कंबल दिया कि वह एक कोट बना ले। उसके कोट के लिए आधा ही कंबल काफी था, इसलिए बाकी आधा मैंने ले लिया—पिताजी तो भला पूछते क्या कि सारा कंबल लगा कि नहीं, और लड़के को कहने की नहीं सूझी; क्योंकि रात को ओढ़ने के लिए तो उसके पास रजाई थी ही !

यह पोटली मेरे पास सात-आठ बरस रही। मैट्रिक पास करके जब घर से अलग होकर कॉलेज गया, तब वह छूट गयी; दो साल बाद लौट-कर फिर मैंने उसे खोल-खालकर इधर-उधर कर दिया।

पोटली तो गयी, पर यह न समझिए कि सपना भी गया। सपना अब भी मेरे साथ है। यों समझ लीजिए कि मन ही मन हमेशा लाठी-पोटली या डोरी-डंडा लिये तैयार रहता हूँ—क्या जाने कब सपना एकाएक सामने आकर कहे : "चलो तो चलो।" और मैं सब छोड़-छाड़कर चल निकलूँ—किधर, नहीं मालूम; कब तक; यह भी नहीं मालूम, लेकिन चलूँ तो सही, यह सारी इतनी बड़ी दुनिया देखता हुआ।

एक और भी सपना था—किताब लिखने और छपाने का। छपाई कैसे होती है यह तो जानता नहीं था, हाथ से सुंदर अक्षर लिखा करता था, और तस्वीरें तो पिताजी की किताबों में से काट लिया करता था, या उनसे फोटो माँग लिया करता था—उनके पास देश-देशांतर के बहुत फोटो रहते थे। और जिल्दें भी बढ़िया-सी किसी किताब पर से उखाड़ कर लगा लिया करता था—पीछे तो सीख लिया कि जिल्दें बनती कैसे हैं। एक-आध दफे तो पिटाई भी हुई किताबें फाड़ने पर; लेकिन पिताजी मेरी किताबें देखकर खूब हँसते थे और उनका गुस्सा प्रायः उस हँसी मे खो जाता था। मुझे इस हँसी का बहुत बुरा लगता था—क्योंकि मैं उनकी लिखी हुई किताब देखकर कभी नहीं हँसता था! फिर मैंने हाथ से लिख-कर एक पत्र निकाला : उसका नाम था आनंद-बंधु। इसे कोई चार साल तक चलाया।

और देखिए—यह सपना भी मेरे साथ ऐसा चिपटा कि अब काम के नाम पर कुछ सोचता हूँ तो किताब लिखने की या पत्रिका निकालने की। और यही सपना देखते-देखते लेखक और संपादक बन गया हूँ। (और कभी इस काम से छुट्टी पाता हूँ तो घुमक्कड़ी के लिए या घुमक्कड़ी के सहारे—यानी एक सपने से उबरता हूँ तो दूसरे में जा उलझता हूँ!) मैंने

कहा न, सपनों में बड़ी ताकत होती है ! और लिखने में भी सोचता हूँ कि जो लिखा वह जब लिखा तब तो अच्छा ही समझकर लिखा, पर सबसे अच्छी किताब तो वह होगी जो अब लिखूंगा। ठीक वैसे ही, जैसे मेरा सबसे अच्छा सपना वह है जो मैं अभी देखने वाला हूँ—और बचपन से ही बस अभी अभी देखने की उमंग में चला आया हूँ।

मधुमक्खियों से सबक

धर्मवीर भारती

अगर बदकिस्मती से आप किसी ऐसी जगह पहुँच जायें जहाँ मधु-मक्खियों का छत्ता हो, और अकस्मात् एक कोने से निकलकर उनका उत्तेजित झुंड आप पर हमला कर दे तो आप क्या करेंगे ? जाहिर है कि सिर पर पाँव रखकर भागेंगे, भूल कर भी उधर का रुख नहीं करेंगे और खुदा-न-खास्ता अगर एक-आध मधुमक्खी ने आपके कमलवदन पर कृपा कर ही दी तो आप कराहते हुए डॉक्टर की तलाश करेंगे। मुझ पर यह विपत आये तो मैं भी यही करूँगा।

लेकिन मेरी आपकी बात और है, असाधारण प्रतिष्ठित विद्वान् लोगों की बात और। अभी दो हफ्ते पहले काशी की बात है। विश्वविद्यालय के कानून महाविद्यालय का समारोह था। अकस्मात् मधुमक्खियों ने एक कोने से निकलकर उपकुलपति तथा अन्य विद्वानों पर हमला कर दिया। पहले तो वे भी साधारण लोगों की तरह मैदान छोड़कर भागे, मगर जब मैदान खतरे से खाली हो गया तब फिर लौटकर आये। निडर होकर आसीन हुए और एक सुन्दर उपदेश दिया। उपकुलपति महोदय ने मधु-मक्खियों के संगठन और आक्रमण करने के तरीके की तारीफ की और कहा : "हमें उनसे सबक लेना चाहिए।"

कुछ लोग ऐसे होते हैं कि विद्वानों के गंभीर से गंभीर वाक्य भी एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देते हैं। मैं इस आदत को बहुत बुरा समझता हूँ। अच्छी बात सुनना ही काफी नहीं होता, उसे गुनना भी

चाहिए। अतः इस सुंदर वाक्य को गुनने बैठा। और तभी एक मुश्किल सामने आयी। चूंकि खबर अधूरी थी इसलिए यह समझ में नहीं आया कि मधुमक्खियों के तरीके अपनाने का उपदेश उपकुलपति महोदय ने दिया किसे था ? अकेले काशी या पटना या कलकत्ता की बात नहीं, पिछले कई वर्षों से तमाम जगहां पर कई घटनाएँ ऐसी हुई हैं, जिससे जाहिर है कि हमारे विद्यार्थी किसी भी बात में पिछड़े हों, पर संगठन, आक्रमण आदि में अभी वे मधुमक्खियों को ही सौ बरस तक शिक्षा दे सकते हैं, मधुमक्खियाँ उनके आगे नौसिखिया साबित होंगी। इसलिए विद्यार्थियों को तो यह खतरनाक उपदेश उन्होने दिया नहीं होगा। अब रहे अध्यापक लोग। बनाने को अध्यापक संगठन बना लें, पर वे बेचारे आक्रमण किसके खिलाफ करेंगे ?

जब यह उपदेश न विद्यार्थियों के लिए था न अध्यापकों के लिए, तो यह उपदेश था किसके लिए—कुछ समझ में नहीं आया मेरे। ज्यों-ज्यों सोचता गया त्यों-त्यों दिमाग उलझन में पड़ता गया। कहा गया है कि जब आप्त वाणी समझ में न आये तो शास्त्रों का सहारा लेना चाहिए।

शास्त्र उलटे-पलटे तो उल्लेख मिला एक अवधूत दत्तात्रेय का। कहते हैं उन्होंने एक न दो, पूरे दो दर्जन गुरु बनाये थे और सबसे शिक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने मधुमक्खी को अपना गुरु माना था। जब यदु ने उनसे पूछा तो बोले : "मधुमक्खी से मैंने यह सीखा है कि जहाँ तक ज्ञान का सवाल है, छोटे या बड़े जिस स्थल से ज्ञान मिले उसका संचय करो, लेकिन जहाँ तक संपदा का प्रश्न है केवल काम चलाने भर के लिए जितनी आवश्यकता हो उतना ही संकलन करो। यदि उससे ज्यादा कोष-संकलन करने के चक्कर में पड़े, तो जैसे छत्ते सहित मधुमक्खी मारी जाती है वैसे ही मारे जाओगे।"

दत्तात्रेय की यह व्याख्या बहुत अच्छी लगी। एक जमाना था कि जब महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, महामना मदनमोहन मालवीय, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज या विधुशेखर भट्टाचार्य-जैसे मनीषी थे, जो

यही सिद्धान्त मानते थे। अब भी बहुत से ऐसे त्यागी, केवल ज्ञानसंचय में रमने वाले पुराने-नये आचार्य अध्यापक विश्वविद्यालय में हैं, लेकिन यह उपदेश सबों पर भला कैसे लागू किया जा सकता है? विद्यालयों में ऐसे भी लोग हो सकते हैं, जो दत्तात्रयजी के मत से पृथक् मत रखते हों और बरसों पहले किसी तरह जो ज्ञानसंचय कर लिया था उससे पूर्णतया संतुष्ट होकर कुंजियों, पाठ्य पुस्तकों, कमिटी की सदस्यताओं आदि के द्वारा ज्ञान से भी ज्यादा ठोस चीजों के संचय में लगे हों। उनको आप दत्तात्रय का मत मानने को क्यों मजबूर करते हैं? प्रजातंत्र में वे भी अपना मत रखने को पूर्ण स्वतंत्र हैं। विश्वविद्यालय में आने-भर के लिए जितने ज्ञान की जरूरत थी उतना अपने समय में संचय कर लिया था। अब यहाँ बने रहने और आगे बढ़ने के लिए ज्ञान की क्या जरूरत? तिकड़म, दाँव-पेंच और मधुमक्खियों के संगठन और एक-दूसरे पर आक्रमण करने के तरीके क्या काफी नहीं हैं?

पिछले दस वर्ष में हमारे देश के सामने जो बहुत पेचीदा समस्याएँ आयी हैं उनमें हमारे विश्वविद्यालय भी रहे हैं। हड़तालें, झगड़े, गोली, लाठियाँ, गाली-गलौज, इश्तहारबाजी, मुकदमे, जाँच-कमीशन और क्या-क्या नहीं हुआ? एक जमाना था जब विश्वविद्यालय देश के सांस्कृतिक जीवन के पवित्रतम तीर्थ माने जाते थे। ब्रिटिश सरकार तक के सामने उनकी एक स्वतंत्र सत्ता बनी हुई थी। और आज? मधुमक्खियों के छत्ते! मधु कम होता जा रहा है, संगठन और आक्रमण बढ़ते जा रहे हैं। कारण ढूँढिए तो ले-देकर एक ही बात : "कुछ अध्यापक शोध, अध्ययन, पठन-पाठन की अपेक्षा विश्वविद्यालय की राजनीति और अपने स्वार्थ-साधन में ज्यादा रुचि लेते हैं।

बात अंशतः ठीक है, लेकिन सवाल उठता है कि क्या अकस्मात् कहीं से ये राजनीति-कुशल अध्यापक टपक पड़े? क्या पहले शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे लोग नहीं थे? आज भी विश्वविद्यालय में ज्ञान के सच्चे संग्राहक आचार्यों की कमी नहीं। हमेशा दोनों ही वर्गों के लोग रहे हैं, लेकिन देखना

यह होगा कि कहाँ पर कौन-सी बात बदल गयी है, कौन-सा अंतर आ गया है कि आज अकस्मात् अध्यापकों का वह वर्ग जो निष्ठावान् और मौन ज्ञानसंचयी है, पृष्ठभूमि में जा पड़ा है और वह वर्ग जो पाठ्य-पुस्तक, कॅमिटी की सदस्यता, इश्तहारबाजी और संगठन तथा आक्रमण में कुशल है, अकस्मात् प्रमुख हो उठा है। यह परिवर्तन क्या है ? किस दिशा में हुआ है ?

नहीं जानता कि इसे कौन-सा शब्द दिया जाये, पर शायद कम से कम शब्दों में यही कहा जा सकता है कि पिछले पंद्रह वर्षों में हमारे देश में राजनीतिक-पूजा इतनी बढ़ी कि सांस्कृतिक क्षेत्रों पर पूरी तरह छा गयी और उसके जो बुरे नतीजे हर तरफ प्रकट हुए हैं, उनमें से एक यह विश्व-विद्यालयों की अव्यवस्था भी है। जब राजनीति पूजा की बात कहता हूँ तो मेरा मतलब किसी एक दल या किसी एक वर्ग से नहीं है। जहाँ तक ज्ञान के क्षेत्र की पवित्रता को कुंठित करने का प्रश्न है राजनीति-मात्र ने उसमें उत्साह दिखाया है, चाहे वह शासक वर्ग की हो, चाहे विरोधी-वर्ग की। विरोधी वर्गों ने विद्यार्थियों के अधकचरे दिमागों को आवेश से अंधा बनाकर उपद्रवों के द्वारा शासन-व्यवस्था को कुंठित करना चाहा है और शासन-सत्ता ने विश्वविद्यालयों की अन्दरूनी व्यवस्था को अधिक-से-अधिक सीधे अपने नियंत्रण में लेने की कोशिश की है। एक ओर सत्तारूढ़ राज-नीतिक और दूसरी ओर सत्ता के लोलुप आंदोलनकारी राजनीतिक, चक्की के दो पाटों की तरह मिलकर दोनों ज्ञानकेन्द्रों की पवित्रता को पीसकर धूल में मिलाते रहे हैं। इस राजनीतिक हमाहमी में स्वभावतया उसी अध्यापकवर्ग ने सहसा अपने को बहुत महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् पाया जो संगठन और आक्रमण में कुशल था, अध्यापन या ज्ञानसंचय में चाहे जितना दरिद्र हो। दोनों ओर की राजनीति उसका छिपा या खुला सहयोग लेती रही।

राजनीति के खेल अगर दोहरे न हों तो फिर राजनीति क्या ? एक ओर तो सत्ता के लिए दोनों वर्गों के राजनीतिकों ने अध्यापकों के इस

विकृत वर्ग को उभारकर महत्त्व दिया और जब उसे महत्त्व मिल चुका तब उसी वर्ग की जाँचकर उनकी तमाम कथाओं को प्रचारित कर, विश्वविद्यालयों की पचासों वर्ष की पुरानी प्रतिष्ठा को जड़ से उखाड़ने का प्रयास शुरू कर दिया। हृदय से त्यागमय, स्वभाव से गंभीर, ज्ञान-संग्रही अध्यापकों की कमी नहीं थी। उनके लिए विश्वविद्यालय आजीविका का नहीं, वरन् आत्मदान और राष्ट्र की भावी पीढ़ी के निर्माण का तीर्थ था। उसी तिर्थ की संपूर्ण पवित्रता और प्रतिष्ठा कीचड़ से भरपूर सनती वे देखते रहे। मगर क्या बोलते? राजनीति के नक्कारखाने में उनकी सुनता भी कौन था?

राष्ट्र के भविष्य का निर्माण ज्ञान के तीर्थ में होता है। जो कल देश के शासक बनेंगे, व्यवस्थापक बनेंगे, वैज्ञानिक बनेंगे, चिंतक बनेंगे, कलाकार बनेंगे, सैनिक बनेंगे, उनके समूचे व्यक्तित्व का निर्माण नेता नहीं, अध्यापक करता है। राउरकेला या भिलाई में जो भी लोहा बनता हो पर राष्ट्र के चरित्र का असली लोहा तो इन विश्वविद्यालयों में बनता है। फिर इतनी महत्त्वपूर्ण संस्था-शक्ति से इतना दर्दनाक खेल राजनीति ने खेला क्यों?

मैं नहीं जानता था कि देश की समस्त राजनीति ने मिलकर यह जो विचित्र खेल खेला उसका क्या सबब है, पर यह जानता हूँ कि जो निष्ठावान् ज्ञानसंचयी अध्यापकों का छोटा-सा खामोश वर्ग है, वह आज चाहे कुहरे में ढँक गया हो, पर उसे चिंता का कोई कारण नहीं। यह विराट् संगठन-कुशल लड़ैत अध्यापकवर्ग तो राजनीतिकों का ही पनपाया हुआ है और वही बेचारे अब इसे सह नहीं पा रहे हैं। इस सारी उथल-पुथल में अगर गंभीर निष्ठावान् अध्यापकवर्ग नीलकंठ की भाँति सारा विष खुद पीकर अपने छात्रों को अमृत ही देता रहा, तभी वह एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण करेगा जो कल देश के शासक होंगे, व्यवस्थापक होंगे, वैज्ञानिक होंगे, चिंतक, लेखक, कलाकार होंगें, सैनिक होंगे। अगर उनके चरित्र को आज वह सच्चा लोहा दे सका तो कल देश का जो महान् भविष्य होगा वही उसका एकमात्र पुरस्कार होगा। लेकिन अगर चारों ओर की गंदी राजनीति

उसे भी विचलित या भ्रांत कर गयी तो वह देश के लिए बड़ी घातक बात होगी।

दुर्भाग्य की बात यह है कि पिछले पाँच-छह वर्षों में राष्ट्रीय जीवन में उसे जो अवमानना और अवहेलना सहनी पड़ी है, उसने कई भ्रांतियों को जन्म दिया है। वे भ्रांतियाँ इस सीमा तक हैं कि मधुमक्खियों की बात उठती है तो उपकुलपति तक असमंजस में पड़ जाते हैं। काश कि मधु-मक्खियों से संगठन और आक्रमण का खतरनाक ढंग सीखने की सलाह न देकर तमाम विश्वविद्यालयों के उच्चतम अधिकारी इस बात की कोशिश करते कि जिस राजनीति से यह संगठन और आक्रमण का वातावरण आया है वह राजनीति अपनी सीमा में लौट जाये, उसकी छाया विश्वविद्यालयों पर से हट जाये, अध्यापकवर्ग राजनीतिकों के समक्ष बौना न बन जाये, और उन ज्ञान-तीर्थों में शुद्ध ज्ञानसंचय का वातावरण फिर पनपे; क्योंकि हमारे देश के भविष्य का असली निर्माण वहीं हो रहा है।

•

कवि, तेरा भोर आ गया

कुबेरनाथ राय

पाँच बजे भोर। अब भी चारों ओर सघन अँधेरा है। लगता है, अँधेरे में असंख्य मछलियाँ तैर रही हैं और मुझे छू-छूकर भाग जाती हैं--मैं अँधकार की धारा में मौज से लेटा हूँ। लिहाफ ही अपनी सीमा तोड़-कर अपार समुद्र बन गया है जिसमें बरारो, रोहित और पिपासी मछलियाँ तैर रही हैं। मेरी आँखें बंद हैं पर मैं आधा सोया, आधा जागा हूँ। तभी रेलगाड़ी के चक्के का दूरगत 'छक, छकाछक' स्वर और पास के शीशम-कुंज से बनपाखी का शोर दोनों साथ साथ उठते हैं। समुद्र-स्वप्न का नशा टूटता है और स्वरों के आघात से मैं सावधान हो उठता हूँ। वे कोमल, नरम, रजतवर्णी मछलियाँ अपने-अपने तलों में जाकर सो जाती हैं। अब मैं जीवित-जाग्रत मनुष्य हूँ, दूरागत रेल स्वर और पास के बनपाखी का शोर ठीक-ठीक सुन रहा हूँ। एक प्रेतस्वर जैसा रहस्यमय गंभीर तो दूसरा प्रार्थना-स्वर जैसा ईमानदार स्पष्ट। एक रंगहीन, यांत्रिक और निर्मम तो, दूसरा रक्त-सा लाल, प्राणों सा हरित और सतरंगी स्वर। पाँच मिनट बाद लोहे और भाप की स्वर-सेना समाप्त हो जायेगी, पर पाँच मिनट बाद या दस मिनट बाद सारा बाग जग जायेगा और सृष्टि में स्वरों के असंख्य इन्द्र-धनुष रात के नील अरुण केशों में उलझ जायेंगे। अंत में किरण का पहला प्रस्फुटन होगा जैसे मोह-रात्रि को काटती हुई आसमान में कबीर की आग जैसी कविता ही दहक उठी हो। और धीरे-धीरे वह किरण तुलसी के यश की तरह धूप बनकर धरती पर फैल जायेगी। पर सुकवि के उस धूप-काव्य के लिखे जाने में घंटों की देर है। अभी तो सिर्फ अंधकार में बनपाखी का पहला शोर ही सुनो।

रेल तो आदमी चलाता है। उसके समय में प्रायः देर हो जाती है। इस असम प्रदेश की 'ऐन० एफ० रेलवे' का तो नाम ही हम लोगों ने रख छोड़ा है 'नान फंकसनिङ् रेलवे'—अकर्मण्य रेलवे। पर बनपाखी चाहे असम का हो, या मद्रास का, उसका गान ठीक समय पर उठता है। यही नहीं, प्रत्येक गायक का अपना-अपना निश्चित प्रारंभ-क्षण होता है। सबसे पहले मुर्गा बोलता है। उसके आधे घंटे बाद दो-चार अनामा बनपाखी सहगान करते हैं। तब ढेंकी, पेंपा, सुग्गा आदि सिवान मथार-जंगल में चारा खोजने वाले पक्षियों का झुंड सहगान करता है और तब कहीं जाकर कौआ काँ काँ बोलता है। उस समय झलझला हो गया होता है। वे पक्षी जो गाँव के भीतर ही चारा पा जाते हैं आखिर में जगते हैं। गौरैया या कबूतर या तो कौए के साथ जगता है या उसके बाद। काल के व्यक्तित्वहीन चेहरे पर नाक-मुँह-आँख नहीं, बल्कि घड़ी के बारह नंबर और दो काँटे हैं। इन काँटों की सटीक पहचान इन पक्षियों को सहज-ज्ञान के तौर पर मिली है। भोर, रैनबसेरा, मौसम आदि का तो ज्ञान इन्हें हो ही जाता है। ये अकाल और अनावृष्टि का भी इशारा कर देते हैं। लगता है कि ये अपने पंखों पर दूर उड़ते-उड़ते विधाता के लोक चले जाते हैं और एक झपट्टे में भविष्य का अखबार पढ़कर लौट आते हैं।

बगल की मस्जिद से मुआज्जिन का अजान-स्वर उठता है। एक उतार-चढ़ाव के साथ ऊर्ध्वमुखी स्वर हवा में फैल जाता है। वातावरण अपूर्व और गंभीर हो उठता है। एक ही स्वर बार-बार। पता नहीं मुआज्जिन अपने खुदा की भाषा में क्या कर रहा है, कौन-सी दुआ माँग रहा है। पर मुझे लगता है कि उसके बूढ़े लयमान स्वर का रंग सफेद है और उसमें 'या खुदा, हिन्दुस्तान जिन्दा रहे! हिन्दुस्तान जिन्दा रहे!' की प्रतिध्वनि है। उसकी प्रार्थना के स्वरों का उर्णनाभ-जाल अँधेरे में तन गया।···ठीक इसी समय मंदिर का घंटा टनटनाता है, ताल पर पटह बजने लगता है। संभवतः आरती हो रही है और कोई वहाँ पर रुद्र-स्तोत्र का पाठ भी कर रहा होगा 'ॐ नमः शिवाय, नमः शिवनाराय च।' अंधकार को चीरती

घंटा-ध्वनि और पटह-स्वर ऐसे लगते हैं गोया मुआज्जिन की प्रार्थना खुदा ने सुन ली है और तलवार जैसी तेजस्वी और संगीतमय आवाज में प्रभु का आशीर्वाद आ रहा है एवमस्तु, एवमस्तु ! आमीन, आमीन !' मुझे लगता है कि मस्जिद खुदा से की गयी प्रार्थना का प्रतीक है और मंदिर की ध्वनि प्रभु के सर्वव्यापी आशीर्वाद का। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। भोर के अंधकार में उठने वाले समानांतर स्वरों में मैं इस सत्य का आविष्कार करता हूँ—पर इस देश का इतिहास इस अंधकार में रावण की तरह व्यंगपूर्वक मेरे आविष्कृत सत्य के प्रति अट्टहास कर उठता है। मैं सोचता हूँ—'आखिर क्यों प्रार्थना और आशीर्वाद एक-दूसरे का दुश्मन बन जाता है ?'

मुर्गी और बनपाखियों ने, मुआज्जिन और पुजारी ने, अंधकार में स्वरों की सेना खड़ी कर दी है। यह उत्साह और बल की सेना है। अब अँधेरा भाग जायेगा ! आवाज भी एक ही तरह की रोशनी है। अँधेरे में एक दूसरे को पुकारकर हम रास्ता पाते हैं, साहस पाते हैं, भरोसा होता है। अतः स्वभाव की दृष्टि से आवाज भी रोशनी ही है। 'बृहदारण्यक' में याज्ञवल्क्य ने कहा है—जब सूर्य अस्त हो जाय, चंद्र अस्त हो जाय, अग्नि भी शांत हो तो पुरुष के एक मात्र बचे रहने का आश्रय है, वाणी। अतः स्वरों की उत्साह और बल की सेना अब दशों दिशाओं में धावमान है। श्यामा रात्रि भाग रही है। उसके नीलोत्पल चरणों का यह आखिरी विक्षेप है। यह उसकी मोहिनी का आखिरी बाण है। पर स्वरों की सेना सिंह-नाद कर रही है। उसके आकर्षण का इन्द्रजाल फट रहा है। अब सोये रहना अच्छा नहीं लगता। जागरण ही सुख-कर है। अपवादस्वरूप ही कहीं कोई रंगीला, कोई दूलहा, कहीं सखसार पर खिजाब लगाये कोई बूढ़ा गुनगुना रहा होगा जैसा कि २०० वर्ष पूर्व रंगीला मुहम्मद शाह गुनगुनाया करता था।

'यार दरबर सुबह बरसर फिक्रबर जायश कुनेद
आशिकान शब मेरवद जंजीर दर पायरा कुनेद।'

(हे रसिको, प्रियतमा अंकाशीन है और सूर्योदय शीघ्र होने वाला है। चिंता उपयुक्त समय पर करना, रात भागी जा रही है, उसके पैरों को जंजीर से बाँध दो।) रंगीने शाह ने सचमुच कोई चिंता नहीं की। कालपुरुष का प्रखर सूर्योदय हो रहा था पर वह शराब के उन्माद में चंद्रमा के सपने देखता रहा। सुनता हूँ जब नादिर शाह के काबुल फतह करने का समाचार लेकर हरकारा दौड़ता आया तो उस समय शाह माहताब बाग में जल-दृश्य देख रहा था —सहस्रधार फव्वारे के साथ-साथ नाचती परियों का जश्न ! शाह ने उस पत्र का एक कोना शराब के प्याले में डुबाकर कहा—'ई दफनरे बेमारी ग़र्क मयेनाब औला।' यह व्यर्थ की झंझट पवित्र शराब में डुबो दी जाती है। पर काल-सूर्य क्षमा नहीं कर सका। पवित्र शराब का स्वप्न एक ही तमाचे में टूट गया।

मुर्गों की बाँग साढ़े-चार में ही आरंभ हुई थी, अब पाँच बजकर दस मिनट हो गये हैं। अब भी वह रह-रहकर बोल रहा है। मुर्गी की बोली में संगीत नहीं, आवाहन का गुल है। तुलसीदास का वाक्य है—'उठे लखन निशि विगत सुनि अरुण-शिखा-धुनि कान।' बच्चन ने उमर खय्याम की मधुशाला का अनुवाद करते समय इस उत्तराधिकार का प्रयोग किया है —

श्रवण कर करुणा शिखा ध्वनिकान
उठे सब यों भी तुरत पुकार
स्वप्न में मदिरालय के बीच
सुनी तब मैंने एक पुकार—।'

कवि दिनकर ने अपने स्वभाव के अनुरूप ही अपने काव्य को क्रांति का 'अरुण शिखंड' कहा है। यों, संस्कृत-साहित्य में कुक्कुट का अधिक महत्त्व नहीं। परंतु लोक संस्कृति और लोक-जीवन में इसका स्थान पहले से ही है। 'गाथा-सप्तशती' का एक अपभ्रंश छंद है—

'चोराणँ, कामुआणं आ पामर पहिवाआणं, कुक्कुडो व अइ
रे रमह, वहह वाहयहः एत्थ तणु आअए रअणी।'

[चोरों, कामुकों और पामर (बेचारे) पथिकों से कुक्कुट क्रमशः बोल रहा

है—'अरे यह रजनी (रात) अब तन्वी (अल्प) है, अतः लेते रहो, रमण करते रहो'; [वाहित कणो गाड़ी चलाते रहो] संस्कृत-साहित्य में भी कुक्कुट का यदा-कदा उल्लेख है। एक सुभाषित में कुक्कुट को छैल-छबीले पंडित के साथ व्यंग्यपूर्वक तुलित किया गया है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने कुक्कुट को आग्नेय-भाषा-परिवार (जिसमें इंडोनेशियन तथा असम की खासी-जयंतिया आदि जनभाषाएं आती हैं) संस्कृत से संबंधित बताया है । कुक्कुट देवी का प्रिय पक्षी है और कहीं-कहीं भारत के कई भागों में इसे मयूर की ही तरह कार्तिकेय का प्रिय मानते हैं। असम में एक कथा प्रचलित है। प्रागज्योतिपेश्वर नरकासुर अपनी आराध्य कामेश्वरी पर ही काम-मोहित हो गया। उसने विवाह का प्रस्ताव रखा। देवी ने शर्त रखी कि वह रात भर में देवी का मंदिर और घाट बाट (रास्ते) तोरण के साथ-साथ नीलाचल पर बनवा दे। नरकासुर ने वचन दे दिया। देवी ने देखा की यह तो प्रात होते-होते काम पूरा करवा देगा अतः उन्होंने कुक्कुट को आदेश दिया कि वह रात बीतने के पूर्व ही बाँग दे दे जिससे काम अधूरा घोषित कर देवी असुर से विवाह करने में इनकार कर सकें। कुक्कुट ने तो वैसा ही किया। परंतु नरक ने क्रोध से उसका शीश भी काट डाला। त्रिपुर-सुंदरी द्वारा उसका उपेक्षित प्रेम प्रतिहिंसात्मक हो उठा और वह विश्व को सोलह हजार कन्याओं का अपहरण करके वासनालिप्त असुर राक्षसी जीवन बिताने लगा।

कुक्कुट से देवी का संबंध होने पर भी असम, बंगाल में कुक्कुट-मांस अपवित्र माना जाता है। (अयोध्याकांड) का साक्ष्य है कि मयूर, मृग और कुक्कुट-मांस श्रेष्ठ नागरिक भोजन है। महर्षि भारद्वाज के आदेश से ऋद्धियों, सिद्धियों, रसेश चंद्रमा और देवमंडल ने भरत का जंगल में ही आतिथ्य किया तथा सर्वश्रेष्ठ पान, भोजन और नारियों को अयोध्या के नागरिक समाज के लिए सुलभ किया गया। इन श्रेष्ठ व्यंजनों के अंदर मयूर, मृग और कुक्कुट-मांस के 'प्रतप्त पिठर' (सींक कबाब) और 'मैरेय' भी थे। मैरेय की तो वापियाँ और कूप प्रकट हो गये थे। आयुर्वेद में चार तरह की

मदिरा का वर्णन है मैरेय, आसव, कोहल और सुरा। कोहल का ही अरबी में 'अल' 'कोहल' हो गया है और फिर अरबी से यह अँग्रेजी में चला गया है। 'मैरेय' को आज-कल की भाषा में 'काकलेट' कहते हैं। आसव और सुरा इन दोनों को मिलाने से 'मैरेय' बनता है जो रामायण-काल का सभ्य पान था। विगत चार-पाँच शताब्दियों से भारत का हिंदू इतना अधिक जैनभावापन्न हो गया था और अभी है ही कि कुक्कुट क्या किसी भी माँस से उसे नरक-द्वार ही दिखायी पड़ता था। आज भी लोगों से सचाई कह दी जाय कि भगवान रामचंद्र माँस खाते थे तो लोग लाठी लेकर धर्मरक्षा के लिए सिर फोड़ने को तैयार हो जायेंगे। हिंदी प्रदेशों में प्रचलित वाल्मीकि के गीता-प्रेस संस्करण में अद्भुत भोंडा अर्थ किया गया है। 'कृष्णसार-मांस' या 'वराह-मांस' का अर्थ गजकंद की जड़ी बताया गया है। शुद्धता के नाम अविद्या और अज्ञान की पूजा करना और अन्य लोगों को भी इसके लिए बाध्य करना सबसे बड़ा बौद्धिक कुकर्म है। आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ हिंदुओं में कुछ माँस खाने वाले भी हैं जैसे वीरेश्वर, स्वामी विवेकानंद और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'। विवेकानंद ने माँस खाने की कई बार प्रेरणा दी है। इस स्थल पर पं० परमानंद शर्मा का कहा हुआ एक रोचक प्रसंग याद आ जाता है। शर्माजी और महाकवि निराला कलकत्ते में केला-बगान (?) में रहते थे। निरामिष श्री शर्मा को तर्क द्वारा परास्त कर निरालाजी ने माँस-भोजन स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया फलतः निराला ने जिनकी सृजन-प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, अपनी सारी कला लगा-कर माँस-पुलाव तैयार किया। परंतु ठीक भोजन परोसते समय नीचे से मुंशी अजमेरी सीढ़ियों से ऊपर चढ़ते दिखायी पड़े। निरालाजी तुरंत बोल पड़े, 'अरे परमानंद, जल्दी आँखों से दूर करो इस पुलाव को, मुंशी अजमेरी आ रहा है। परम वैष्णव है, माँस की बात उसे मालूम हुई कि वह यहाँ आना ही छोड़ देगा।' जब अजमेरीजी तीसरे मंजिल पर पहुँचे कि पुलाव हिरन हो गया था केवल भीनी खुशबू बची थी किसी विदा हो गये देवता के आशीर्वाद की तरह। सारी स्थिति के अंदर विडंबना यह थी

कि निराला शुद्ध कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और मुंशी अजमेरी एक मुसलमान। आज की पीढ़ी स्वर्गीय अजमेरीज़ी या स्वर्गीय सैयद अमीर अली 'मीर' को जानती भी नहीं। यह सही बात है कि इनकी लिखी कविता आज वैसी ही आकर्षण-हीन हो गयी है जैसे महावीरप्रसाद द्विवेदी की लिखी आलोचना, क्योंकि सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ बिल्कुल बदल गया है। पर इन बूढ़े साहित्य-सेवियों की मनुष्यता, राष्ट्र-प्रेम और ईमानदारी भी क्या भूल जाने की चीज है ? क्या ये इतनी उपेक्षा के पात्र हैं ?

कलकत्ता का प्रसंग कलकत्ते की सुबह-शाम की याद दिला देता है। कलकत्ते की शाम, चौरंगी की शाम, पहले सुभग, सुलभ, रंगीन और 'टेसू' शाम थी। 'टेसू' अर्थात् एँग्लो इंडियन। इसकी बायीं टाँग के मोजे पर काला धागा होता था। पर अब संकेत बदल गया है, धागा नहीं है और 'टेसू' संस्कृति का इंद्रधनुष भी मैला पड़ गया है। उसकी जगह पर आ गयी है विश्व-भारती छाप 'वंगरेज़ी' संस्कृति और संकेत अधिक व्यापक और अर्थपूर्ण हो उठा है। अंगरेज चले गये पर 'वंगरेज़' 'मदरेज़' और 'पंजरेज़' ये तीन उसका उत्तराधिकार ग्रहण करा लिये। (वंगरेज़ शब्द के पिता हैं विख्यात गल्पकार श्री समरेश बसू, मैं नहीं) 'पंजरेज़' तो और चाहे जो हों, पर वे दिल्ली की ढाल हैं—पंजाब सदियों से हिंदुस्तान की ढाल रहा है। परंतु 'वंगरेज़ों' और 'मदरेज़ों' की मानसिक राजधानी पहले लंदन थी तो आज पेकिङ् और न्यूयार्क है। (मैं मानसिक और बौद्धिक स्तर पर बात पर रहा हूँ राजनीति के सस्ते स्तर पर नहीं।)

यह तो हुई कलकत्ते की शाम की बात पर। पर कलकत्ते की सुबह तो ज्यों-की-त्यों है। उसमें अँग्रेजी राज के चले जाने के बाद भी कोई परिवर्तन नहीं, हुई वह गंदी फुहड़, निराशामय हिंदुस्तानी सुबह। कलकत्ते की भोर को तीन प्रतीक व्यक्त करते हैं। ट्राम की गाड़ी के अतिरिक्त और कोई सुबह-सुबह कलकत्ते में मिलेंगे तो ये तीन ही। वे हैं तीन 'म'कार—मास्टर, मेहतर और मूषक। कलकत्ते के प्रत्येक मास्टर की महत्त्वाकांक्षा होती है, १० से ४ बजे तक की ड्यूटी के अलावा दस ट्यूशन कर

लेना। अतः वे अंधेरे मुंह निकलते हैं। मेहतर और भिश्ती सबेरे-सबेरे रास्ते की सफाई करते हैं और रात को चारे की खोज में निकले पिल्ले इतने मोटे, बड़े रोम वाले, क्रूर आंखों वाले मूषक-गण अपनी-अपनी गोदामों में छिपने के लिए भागते नजर आते हैं विशेषतः लक्ष्मी वाहनों के मुहल्ले डलहौजी, बड़ा बाजार, बहु बाजार, काशीपुरा में। ये निशिचारी मोटे, क्रूर पिंगल नेत्र, पिल्ले जैसे मूषक कलकत्ते की आत्मा के सशक्त प्रतीक हैं। मुझे एक चर्यापद याद आ जाता है जिसका भावार्थ है—'निसि अँधारी मूसकराय अहारा।' रात अँधेरी है मूषक आहार करता है। रात अँधेरी है, मूषक आचार (सदाचार) का ही भक्षण करता है। मूषक, मूषक चारों ओर मूषक। ये धरती से उठते हैं। आसमान में छा जाते हैं; आसमान का अमृत गटागट पी जाते हैं। मूषक, मूषक चारों ओर मूषक। हवा में मूषक। अरे योगी मारो इन्हें। हवा को बंद करो (खाल को रोको) जिससे तुम्हारा आवागमन छूटे।

कलकत्ते के क्रूर पिंगल नेत्र निशिचारी मूषकों को देखते हुए मुझे यह चर्यापद याद आ जाता है। कलकत्ते के आत्मिक रोग और उसकी निरंतर गलित शिरा धमनियों में विहार करते घिनौने जंतुओं का सर्वोत्तम प्रतीक है यही मूषक। यह गणेश-वाहन नहीं, पाप-वाहन है।

अब पाँच बजकर पंद्रह मिनट हो गये। परंतु थाने का पाँच अब बजा है। पुलिस का गजर अब उनका है। एक, दो, तीन, चार, पांच! और उसके बाद एक मिनट की गूंज और फिर ध्वनि की मृत्यु। जब काल-पुरुष का सारथी घोड़ों को कोड़े से पीटते हुए सनातन प्रवाह के मार्ग पर पंद्रह मिनट आगे चल चुका है तो पुलिस की काली गाड़ी पाँच बजे वाले बिंदु पर पहुँची है। पुलिस का समय-ज्ञान सदैव पिछे रहता है। वह आगे बढ़कर व्यवस्था नहीं संभालती। सदैव समय से पीछे रहती है। जब कहीं कोई दंगा-फसाद, अग्निकांड हो जाता है तो आग बुझ जाने, 'आसामी' पकड़ने और मोलतोल करने वह पहुँचती है। कलकत्ते के गुंडे हैं कड़ी भरकर कहते हैं— 'पुलिस? अरे पुलिस को चाँदी के जूते से

पीट देंगे, चुप हो जायेंगे'। इस बार अर्थात् १९६८ के गणतंत्र-दिवस के अवसर पर गोहाटी पुलिस ने अकर्मण्यता और कर्तव्यहीनता का उच्चतम रिकार्ड कायम किया है। एक बहुत बड़ा मुहल्ला जलाकर साफ कर दिया गया, दुकानों की पाँच घंटे तक लूट हुई, राष्ट्र-ध्वज को जलाकर जगह-ब-जगह क्षेत्रीय जातीयता का नग्न-नृत्य किया गया। पर पुलिस मूक-दर्शक बनी रही करीब पाँच घंटे तक। एकदम ऐतिहासिक रिकार्ड! मुझे जस्टिस आनंद मुल्ला का कथन याद आता है कि भारतीय पुलिस सर्वाधिक संगठित डाकू-प्रतिष्ठान है। इससे किसी भी हालत में मुक्ति नहीं। अधिनायकवादी व्यवस्था में तो यह और संगठित और शक्तिशाली हो जायेगी।

आसमान अब बादामी हो चला। कुछ क्षण बाद लाल हो जायेगा। पक्षियों का कलरव तीव्रतर हो उठा। लगता है कि ये प्राइमरी स्कूल के बच्चे हैं और कक्षा में मास्टर आने के पूर्व खूब शोर मचा रहे हैं। अभी-अभी बेंत लेकर तेजस्वी सूर्य कर्म की पाठशाला में प्रवेश करेगा। तब तक दस मिनट ये भर-पेट शोर मचा लें।...लाली प्रखर होने लगी, रंग के अतिरिक्त उसमें चमक आने लगी, अरुण-स्वर्ण-रेशमी चमक। एक तेजस्वी स्वर्णिम किरण बंद वातायन की फाँक से मेरे कमरे में प्रवेश कर कहने लगी: 'प्रिय, तेरा भोर हो गया। तू किसी शाहंशाह के घोड़े की टाप के नीचे कुचले जाने को तैयार हो जा।' 'कवि, तेरा भोर हो गया। किसी दूर के आकर्षण से अपने को दंशित करवाने के लिए तैयार हो जा। तेरी अपनी देह ही तेरी रोटी है और तेरा अपना खून ही तेरी शराब है। इस रोटी और इस शराब का वरण कर।' अंत में कोई 'अरुण पंख तरुण किरण' अब दार्शनिक स्वर छोड़कर घर की भाषा में दरवाजे पर हलकी थाप देते हुए बोली -'क्यों जी सोते ही रहोगे?' इस स्वर की अवज्ञा मैं नहीं कर सका और महाकवि निराला की लिखी अंतिम पंक्ति के गवाह हैं (श्री विद्यानिवास मिश्र) इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण पंक्ति का स्मरण करते हुए मैंने शय्या त्याग दी—'पुनः सबेरा, एक बार फेरा है जी का।'

●

नये वर्ष के शुभ संकल्प

डॉ० रामविलास शर्मा

वर्ष के आरंभ में हर बार मैं नये संकल्प करता हूँ। मेरा वर्ष भी साल में कई बार आरंभ होता है। नियति देवी ने कृपा करके मुझे अध्यापक बनाया है; इसलिए वास्तविक वर्ष जुलाई से आरंभ होता है। अध्यापक नवयुवकों का -सहशिक्षा के कारण नवयुवतियों का भी चरित्र-निर्माण करता है। राजनीति-विशारदों की अपेक्षा राष्ट्र के विकास में उसका अधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इस राष्ट्रीय विकास का पर्व जुलाई में आरंभ होता है। कितने लड़के फेल हुए, अँग्रेजी के ही कारण कितने परीक्षा की दुर्गम घाटी पार न कर सके, किस प्रकार इन्हें अँग्रेजी शब्दों की सही हिज्जे करना और साधारण वाक्य-रचना सिखायी जाय आदि राष्ट्र-निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य सामने आ खड़े होते हैं। अँग्रेजी विभाग की 'शिथिल' कार्यवाही के ही कारण विद्यार्थियों का परिक्ष:फल ऐसा खराब रहा—इस तरह की कठोर सार्वजनिक भर्त्सना से यदि बच गये तो अ़पना भाग्य सराहा।

पिछले वर्ष विद्यार्थियों ने स्पष्ट या सांकेतिक भाषा में ठीक-ठीक अध्यापन-कार्य चलाने के लिए जो भी सुझाव दिये थे, वे सब आँखों के सामने घूम जाते हैं। मन में इस तरह के संकल्प उठते हैं—इस बार पुस्तक पढ़ाने से पहले प्रश्नपत्र जरूर देख लेना; साहित्य के विषय में विद्यार्थियों से ऐसा कुछ न कहना जो उनकी परीक्षा के लिए नितांत उपयोगी न हो। इस तरह के शुभ संकल्पों पर चलकर जितने सफल अध्यापक बने हैं, उनको मन ही मन प्रणाम करता हुआ मैं घर से कॉलेज की ओर चलता हूँ।

स्कूलों और कॉलेजों में काफी समय बर्बाद करने के कारण मुझे अनेक अध्यापकों के निकट संपर्क में आने का अवसर मिला है। इनमें जिन अध्यापकों की मुझ पर विशेष कृपा रही, वे असफल कहलाने के ही अधिकारी थे। मास्टर रुद्रनारायण एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, जिनका चित्र आँकना वृन्दावनलाल वर्मा जैसे कलाकार ने आवश्यक समझा। झाँसी की सरस्वती पाठशाला में वह हमारे ड्राइंग मास्टर थे। जितनी ड्राइंग सिखाते थे, उससे ज्यादा वह पहाड़ियों पर चढ़ना, पंजा और कलाई लड़ाना और न जाने कहाँ-कहाँ की गप्प हाँकना सिखाते थे। वह चित्र-निर्माण से अधिक चरित्र-निर्माण में विश्वास करते थे। उनकी लंबी नाक छोटे बच्चों को मजाक के लिए सदा उत्साहित करती थी, आँखों से बच्चों की सी शरारत झाँका करती थी। वे हमसे उम्र में बड़े हैं, यह पता ही न चलता था। उनके घर से हम वैसे ही परिचित थे जैसे स्कूल से। उनकी क्लास और घर के वातावरण में ज्यादा अंतर न था।

अच्छा हुआ, कुछ दिन बाद मास्टरसाहब स्कूल से अलग हो गये, वर्ना न जाने कितनों का बंटाढार कर जाते। तस्वीर बनाने से लेकर दवा-फरोशी तक उन्होंने न जाने कितने पेशे अपनाये लेकिन अध्यापकी की तरह वह हर जगह असफल ही रहे। बाबू गुलाबराय की तरह वह भी अपनी असफलताओं पर पुस्तक लिखते तो एक छोटा-मोटा महाभारत तैयार हो जाता। लेखकों के सौभाग्य से उन्होंने साहित्य के पेशे को दूर से ही नमस्कार किया।

मास्टर रुद्रनारायण मेरे सबसे प्रिय अध्यापक थे। उनके साथ रहते हुए परिश्रम करने का सवाल ही न उठता था। ब्रह्मानंद की तरह जीवन में केवल मनोरंजन था, उसके सिवा और कुछ नहीं। हमारे बिना जाने हुए कहीं चित्र और शिल्प के दो-चार संस्कार मन में डाल दिये हों, दूसरी बात है।

मेरे एक दूसरे आदर्श अध्यापक थे, ब्रजभूषणलाल त्रिपाठी। 'निश्चल' नाम से कविता करते थे। पाठ्य-पुस्तकों की दुनियाँ से दूर कविता की

जितनी सुंदर-सुंदर पुस्तकें थीं, उनसे उन्होंने अकाल ही हमारा परिचय करा दिया था। रामचरितमानस पढ़ाते-पढ़ाते वह ऐसे विह्वल हो जाते थे कि गला रुँध जाता था और वह अर्थ बताना भूल जाते थे। उस समय वह मूर्तिमान साहित्य जैसे दिखायी देते थे। कुछ दिन बाद वह भी स्कूल में न दिखायी दिये।

इस तरह के अनेक गुरुजन जीवन में आ चुके हैं। कॉलेज के वर्ष का आरंभ होने के समय उन सब पर श्रद्धा के फूल चढ़ाकर उनसे प्रार्थना करता हूँ। मन पर जो शुभ-संस्कार आप छोड़ गये हैं, उन्हें समेट लीजिये, मुझे अपने विद्यार्थियों का भविष्य-निर्माण करने दीजिये। यथाशक्ति इन शुभ संकल्पों पर चलने का प्रयत्न भी करता हूँ, किंतु वर्ष के अंत में सुचारु ढंग से अध्यापन करने के लिए विद्यार्थियों से जो स्पष्ट सुझाव या संकेत मिलते हैं, उनसे अच्छी तरह पता चल जाता है कि अपने संकल्पों में मुझे कितनी सफलता मिली है।

दूसरी तरह का वर्ष आरंभ होता है पहली जनवरी को। जीवन की सारी कार्यवाही इसी जनवरी-दिसंबर वाले कैलेंडर के अनुसार होती है। वातावरण से प्रभावित होकर मैं भी यह अनुभव करने लगा हूँ कि ३१ दिसंबर की रात को जैसे कुछ समाप्त हुआ और पहली जनवरी से कोई नयी चीज शुरू हो रही है। उस समय अपने सामाजिक जीवन की मुख्य कमजोरी याद करके उसे दूर करने का शुभ संकल्प करता हूँ। वह कमजोरी है समय पर पत्रों का उत्तर न देना। मुझे पत्र लिखने वालों की संख्या काफी बड़ी है, किन्तु इनमें नियमित पत्र-व्यवहार करने वाले दो ही चार भलेमानस हैं। मेरे आलस्य को अपने धैर्य से परास्त करने की क्षमता इन्हीं मित्रों में है। पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता होती है, उनका उत्तर लिखने में उतना ही कष्ट होता है। इसमें सारा दोष मेरे आलस्य का नहीं है।

एक तरह के पत्र-लेखक वे हैं जो किसी पुस्तक की भूमिका लिखाना चाहते हैं या उस पर सम्मति चाहते हैं। भूमिका या सम्मति किस तरह की हो, कितने पृष्ठों की हो और किस तरह का प्रभाव डालने वाली हो,

बहुधा यह सब वह पहले से ही लिख दिया करते हैं। ऐसे मित्रों को पत्र लिखने के लिए पहले उनकी पुस्तक पढ़ना आवश्यक होता है। जिसे मेरी भूमिका या सम्मति दरकार हो, वह पुस्तक किसी नौसिखिये की अनगढ़ रचना होगी, यह धारणा मन को पुस्तक पढ़ने से बार-बार रोकती है। जब तब यह धारणा भ्रांत भी सिद्ध होती है लेकिन मन को एक बहाना तो मिल ही जाता है।

कुछ अन्य पत्र-लेखक अपने अध्ययन, शोध आदि के बारे में सलाह माँगने वाले होते हैं। थोड़ी फुर्सत से उनके विषय पर सोच-विचार कर लिखना आवश्यक होता है और फुर्सत की राह देखते-देखते इतना विलंब हो जाता है कि फिर उत्तर लिखने में भी संकोच मालूम होने लगता है।

मैं केवल अध्यापक नहीं, केवल लेखक नहीं, घर-गृहस्थी वाला हजार झंझटों में फँसा हुआ आदमी हूँ। हर नेक काम में पचास बाधाएँ उठ खड़ी होती हैं। नतीजा यह है कि प्रायः हर पत्र में मुझे कैफियत देनी पड़ती है कि पत्र लिखने में विलंब क्यों हुआ है और कोई कारण न होने पर मैं अपने कृपालु पत्र-लेखकों को स्पष्ट सूचित कर देता हूँ कि विलंब का कारण मेरा आलस्य है।

हर वर्ष के आरंभ में मुझे भारतेंदु हरिश्चंद्र का स्मरण हो आता है जिन्होंने आलस्य को हिंदीभाषियों की जातीय विशेषता समझकर उसे निर्मूल करने का बीड़ा उठाया था। पद्मावत का संपादन करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था, 'इतनी बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को बिना धोखा खाये पार करना मेरे ऐसे अल्पज्ञ और आलसी के लिए असंभव ही समझिये।' यहाँ आचार्य ने अल्पज्ञ तो नम्रता-वश लिखा है किंतु आलसी शब्द बहुत कुछ वास्तविकता का द्योतक है। ऐसा न होता तो परिमाण में शुक्लजी की रचनाएँ कुछ अधिक अवश्य होतीं। वह हिंदी के आदर्श आलोचक हैं। उनके आलस्य की कल्पना से ही उद्यम के शुभ संकल्प हवा हो जाते हैं। शुक्लजी को पद्मावत पढ़ने में आलस्य आया था, गोस्वामी तुलसीदास को तो रामनाम जपने में भी इस रोग ने सताया था। लिख गये हैं—

जपत जीह रघुनाथ को, नाम नहिं अलसातो ।
बाजीगर के सूम ज्यों खल, खेह न खातो ॥

संभव है, राम का नाम जपने में अपनी तत्परता से संतुष्ट न होकर अथवा केवल अपनी दीनता दिखाने के लिए ही गोस्वामीजी आलस्य की बात लिख गये हों फिर भी मन से यह धारणा निकालना कठिन है कि आलस्य हिंदीभाषियों की जातीय विशेषता रही है और गोस्वामीजी हिंदी-भाषियों के सिरमौर हैं ।

तीसरी तरह का वर्ष आरंभ होता है मेरे जन्म-दिवस पर । उस दिन मैं अध्यापन की बात नहीं सोचता, पत्र लिखने की चिंता से भी मन को मुक्त रखता हूँ । सबसे पहले अपने शारीरिक स्वास्थ्य का लेखा-जोखा देखता हूँ । चालीस पार करने के बाद महाकवि निराला किस तरह अपने तरुण जीवन की मधुर कल्पना और उसका सरस वर्णन किया करते थे, उसका रहस्य अब समझ में आने लगा है । अनेक साहित्यिक मित्रों ने मेरे संबंध में अपनी पुरानी कल्पना को जीवित रखा है यद्यपि उस कल्पना से यथार्थ का कोई संबंध नहीं है । 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्', इस मंत्र के पाठ से ही मन को संतुष्ट कर लेता हूँ ।

मित्रवर अमृतलाल नागर जब मिलते हैं, यह कहना नहीं भूलते कि सक्रिय जीवन के पन्द्रह वर्ष ही और रहे हैं; जो कुछ साहित्य-सेवा करनी हो, इन्हीं वर्षों में कर डालो । कविवर शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने साँसों का हिसाब रखने के लिए एक कविता ही लिख डाली है ।

यह सब याद करके मैं शुभ संकल्प करता हूँ कि अब किसी वाद-विवाद में न पड़ूँगा और यथाशक्ति आलोचना भी न लिखूँगा । तभी किसी-न किसी संपादक का पत्र आ टपकता है : लेख भेजो । लेख का अर्थ होता है—आलोचना । और संपादकों से तो बस चल जाता है लेकिन 'नया पथ' के शिव वर्माजी के तकाजे बिना कुछ प्राप्त किये बंद होने का नाम नहीं लेते । इधर वह 'नया पथ' के सक्रिय संपादक नहीं हैं और मैंने आराम की साँस ली ही थी कि भारती के दुर्भाग्य से नंददुलारेजी वाजपेयी

'आलोचना' के संपादक बन गये। एक लेख की तैयारी और लिख भेजने की थकान मिटाने के बाद जब तक सरस्वती की आराधना के लिए पत्र-पुष्प इकट्ठे करता हूँ, तब तक वाजपेयीजी का दूसरा पत्र नये लेख की माँग करता हुआ आ पहुँचता है।

आप इससे यह अनुमान न करें कि संपादकों को मेरे लेख बहुत पसंद आते हैं या उनका आज्ञापालन करने में मैं बहुत तत्पर रहता हूँ। लेख लिखूँ या न लिखूँ, किसी ने लेख माँगा है, इसकी चिंता ही और सब रचनात्मक कार्य बंद करा देने के लिए काफी है।

संपादकों के अलावा रचनात्मक प्रतिभा की क्षीण सरिता का जल पी जाने वाले प्रकाशकगण हैं। उन्हें आलोचना से अधिक साहित्य के अन्य किसी अंग में रुचि ही नहीं है। कोई नयी पुस्तक न मिले तो लेखों का संग्रह ही छापने को तैयार हैं। कई पुस्तकें जिनका श्रीगणेश भी नहीं हुआ, उनकी कृपा से इतनी ज्ञापित हो चुकी हैं कि उन्हें आगे-पीछे लिखे बिना निस्तार नहीं।

इस तरह अध्यापन, पत्र-लेखन और आलोचना में एक वर्ष के बाद दूसरा वर्ष बीतता जाता है। साल में तीन बार तीन तरह के वर्ष आरंभ होते हैं और मैं तीन तरह के संकल्प करता हूँ। वर्ष का अंत होते-होते उसी संकल्प को फिर दोहराने की आवश्यकता पड़ती है। हिंदी पाठक बहुत ही उदार हैं, तुलसीदास के राम से भी अधिक उदार। उनकी उदारता के सहारे जीवन-सरिता शुभ संकल्पों की चट्टानें पार करती हुई अपनी सुपरिचित मंथर गति से बहती हुई निर्बाध काल में विलीन होती जाती है। यदि 'आज' के संपादक महोदय मेरे 'खेद-पत्र' से संतुष्ट हो जाते तो लेख के नाम पर आपको शुभ संकल्पों की इस कैफियत से व्यथित करने की आवश्यकता भी न पड़ती। हाँ, दूसरों के शुभ संकल्पों की सफलता के लिए मंगल कामनाएँ भेजना मैं कभी नहीं भूलता।

●

विद्यानिवास मिश्र

हल्दी-दूब और दधि-अच्छत

मेरे घर की संस्कृति के मांगलिक उपादान मूर्त रूप में हल्दी-दूब और दधि-अच्छत ही हैं, इसलिए शहर में एक लम्बे अरसे तक बसने के बाद भी मन इन मंगल-द्रव्यों की शोभा के लिए ललक उठता है। बहुत दिनों से कोई अर्चन-पूजा नहीं की है, जिसको अर्चन का अधिकार सौंप दिया है, उससे भी कोसों और महीनों का व्यवधान है। वसंत की उदास बयार की लहक एक अजीब-सा अनमनापन भर रही है, वर्षांत के कार्य का बोझ सिर पर लदा हुआ है। जिसे लोग उल्लास कहते हैं, वह जैसे पथरा गया है; पर क्या बात है कि हल्दी से रंगी हथेली, दूब से पुलकित पूजा की थाली, अक्षत से भरा चौक और दधि से शोभित भाल, ये चित्र मन में उभर आते हैं। हृदय का वह प्रथम अनुराग बासी पड़ गया, उस नव-प्रणय की भाषा जूठी हो गयी, उसके अंतर का वह रस सीठ गया, उस रस का वह आपूरित आनंद रीत गया, जिन नव दृग-पल्लवों की बंदनवार लगी, वे दृग-पल्लव मुरझा गये, 'नयन सलोने अधर मधु' दोनों ही करुवा गये; पर क्या जादू है कि मन की कोर में लगी हल्दी नहीं छूटी, जीवन-प्रांतर में उगी हुई दूब और परिसर में बिछी हुई 'अच्छत' राशि क्षत-विक्षत नहीं हुई।

यह जानते हुए भी कि गाँव की उस मांगलिक कल्पना में शहरी जीवन का कोई मेल नहीं हो सकता, मेरा अनागर मन उस कल्पना का पल्ला नहीं छोड़ना चाहता। किसी ने प्रतिगामी कहा और किसी ने अपनी काफी-हाउस या कोकाकोला सभ्यता में 'अखपनीय' मानकर दुराग्रही जनवादी या शिष्ट

शब्दों का प्रयोग कर प्रगतिशील कहा; पर वह बिचारा गँवार चरवाहा ही बना रहा। उसकी काली कमली पर दूसरा रंग न चढ़ा। उसकी पुरानी बाँसुरी में दूसरी टेर नहीं आयी, उसके गीतों में दूसरे गोपाल नहीं आये। उसकी प्रत्येक नयी प्राप्ति अपने शुभ के लिए अब भी हल्दी का वरदान माँगती है। उसकी प्रत्येक नयी यात्रा दही का सगुन चाहती है। उसकी प्रत्येक नयी साधना दूर्वा का अभिषेक माँगती है और उसकी प्रत्येक नयी आपूर्ति अक्षत से पूर्णता का आशीष चाहती है।

मैं अवश हूँ। फिरोजी, सुरमई, मूँगिया और चंपई इन रंगों से घिरा होकर भी नवांकुरित दूब की हरित-पीत आभा की ओर मेरा मन दौड़ ही आता है और धरती, माटी, मानव और आस्था, ईमान, सत्य, चेतना और युगमानस—इन सभी उपासना-मंत्रों के कोलाहल में भी 'हरद दूब दधि अच्छत मूला' की गीतियों की स्फूर्ति के पीछे वह भटक जाता है। चारों ओर से लोग मुझसे प्रश्न-पर-प्रश्न करते हैं कि तुम अपनी प्रतिभा क्यों बिखरा रहे हो, क्यों नहीं हमारे पंक्ति बंधन में आकर उसको एक दिशा में आगे बढ़ाते, युगपथ छोड़कर किन पिच्छिल पग-वीथियों पर विभ्रांत हो मैं किस-किस को और क्या जवाब दूँ ? उन्हें कैसे समझाऊँ कि मेरे ये संस्कार ही मेरे अस्तित्व हैं, मैं इनको छोड़कर कुछ नहीं। इस अनंत शून्य में तिरते हुए ये तिनके मिले हैं, उन्हें छोड़कर चलने पर मेरा आसरा टूट जायेगा। उन्हें कैसे दिखाऊँ कि तुम्हारी योजना, तुम्हारा यज्ञ, तुम्हारी क्रांति, तुम्हारा वाद, तुम्हारी आस्था और तुम्हारा ईमान मुझे ही नहीं, मेरे जैसे हल्दी, दूब और दधि-अच्छत से अपने मन की मनौती पूरी करने वाले असंख्य गँवार भाइयों को भी छू नहीं पाते। तुम लोकगीत के तर्ज अपनाते हो, तुम गाथाओं की शैली अपनाते हो; पर तुम लोक का साक्षात्कार नहीं कर पाते। तुमसे क्या अपने घर की बात कहूँ, तुम समझ नहीं पाओगे। भाई, तुमने तो केवल वसन-भूषण ही देखे हैं, तुम शरीर तक नहीं देख पाये, आत्मा तो बहुत दूर की चीज़ है। एक भी धूलिकण न सह सकने वाले तुम्हारे ये पाहन-नयन कीच-कांदों में विकसने वाले नलिन-नयनों को कैसे निरख सकेंगे।

पत्थर के चश्में उतारकर अगर तुम अपने आस-पास सौ दो-सौ बीघा भी देख सकते हो, तो आओ मेरे साथ, मैं तुम्हें दिखलाऊँ कि बिना किसी अभियान, आंदोलन या क्रांति के उस धूमावृत पल्ली-समाज में एक अखंड यज्ञानल धधक रहा है, उसमें लपट नहीं, ज्वाला नहीं, दीप्ति नहीं, पर एक ऐसा ताप है जो अनाचार के कठोर-से-कठोर पाषाण को पिघला देगा, जो रोल्डगोल्ड की चमक को सँवरा देगा, जो बुद्धि के अजीर्ण को पचा देगा और जो बुझी हुई ज्योति को उकसा देगा। वह आग, हल्दी तथा दूब-भरी अर्चना और दधि-अक्षतमयी सिद्धि की साक्षी है, जिससे 'साठी के चउरा' और 'लहालरि दूब' से भरी अंजलि 'लाख बरिस' की आयुष्य-वृद्धि करती है। वह आग उस बंधन की साक्षी है, जो वन के एकांत की माँग नहीं करता, जो गृह के संकुल में अपनी एकाग्रता सुरक्षित रख सकता है, वह आग जीवन के उस दर्शन की साक्षी है जो विचल होना जानता नहीं, वह आग उस सिंदूर-दान की साक्षी है, जिसमें सिंदूर भरने वाला अपने प्राणों का आलोक किसी की माँग में भर देता है।

मैं आज भी उस आग की आँच अपनी असीम जड़ता के अंतरतम में अनुभव करता हूँ। मेरे मन में वह याद अब भी ताजी है, जब मैं दूर्वाक्षतों से सौ बार चूमा गया था, तीस-पैंतीस कुल कन्याओं की सेना मस्तक से लेकर जानु तक अपनी उँगलियों से दूब-अक्षत लेकर वय, शक्ति और उमंग के अनुरूप बल लगा-लगाकर एक के बाद एक दबाती जा रही थी। इसी व्यापार को चूमने की संज्ञा देकर गीत उच्चरित हो रहे थे। मैं इस चूमने से खीझता जा रहा था, ऊपर से थोड़ा-बहुत शहरी संस्कारों के प्रभाव-वश पानी-पानी हो रहा था; पर भीतर-ही-भीतर मुझे ऐसा लग रहा था कि जैसे दूब-अच्छत के संयोग के द्वारा अक्षय हरियाली की शुभकामना मेरे अंग-अंग को अभिमंत्रित कर रही हो। उस चूमने में अधर नहीं मिले, पर जाने कितने बाल, किशोर, तरुण और प्रौढ़ हृदयों को अपने-अपने ढंग से मंगल-चेतना का संस्पर्श अवश्य मिला, उस चूमने से मादकता नहीं आयी; पर जाने विश्व भर के सहयोग का एक ऐसा आश्वासन मिल गया कि मन

में मीठी-सी सिहरन पैदा हुई। उस चूमने से शोले नहीं भड़के, नसें नहीं पिघलीं और प्यास नहीं बढ़ी, बल्कि एक ऐसी शीतलता जड़िमा और परितृप्ति आयी कि लगा व्यक्ति का प्रणय समष्टि की स्नेहच्छाया के लिए युगों से तरसता आया हो और अब पाकर परितुष्ट हो गया हो। आषाढ़ चढ़ते ही मंजरियों में झूम उठने वाली साठी के वे लहराते खेत बरसों से देखने को नहीं मिलते; पर उसके हल्दी-रंगे अक्षतों का एक अंजलि से दूसरी अंजलि में अर्पण-प्रत्यर्पण और उन अक्षतों के मिस हृदय की एक-एक करके समस्त सुकुमार भावनाओं के अर्पण प्रत्यर्पण की स्मृति आज भी हरी है।

साठी के धान वैशाख-जेठ में रोपे जाते हैं और चिलबिलाती धूप से वे जीवन-रस ग्रहण करते हैं। दूब भी पशुओं के खुर से कुचली जाती है, खुरपी से छीली जाती है, कुदाली से खोदी जाती है, हल की नोक से उलटी जाती है, अहिंस्र कहे जाने वाले पशुओं से निर्ममता के साथ चरी जाती है और मानवों में सबसे उत्तम वृत्ति रखने वाले खेतिहर से सतायी जाती है; पर वह प्रत्येक जीवन-यात्री को वर्षा में फिसलने से बचाने के लिए पाँवड़े बिछाती है। वह दो खेतों की परस्पर छीना-छोरी की नाशिनी स्पर्धा को रोकने के लिए शांति-रेखा बन जाती है। जरा-सा भी मौका मिल जाय, तो फैलकर मखमली फ़र्श बन जाती है। पनघट के मंगल-गीतों का उच्छ्वास पाकर वह मरकत की राशि बन जाती है, शरद् का प्रसन्न आकाश जब रीझकर मोती बरसाता है, तब वह धरती की छितराती आँचल बन जाती है और जब ग्रीष्म का कुपित रवि आग बरसाता है, तब वह धरती के धीरज की छाँह बन जाती है। उस दूब को यदि नारी पूजा की थाली में सजाती है, तो उन समस्त अत्याचारों का क्षण भर के लिए उपशम हो जाता है, जिन्हें दूब प्रतिक्षण सहती रहती है।

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है तितिक्षा, जिसकी सही अर्थ में मूर्त व्यंजना ही दूर्वा है। दूर्वा चढ़ाने का जो वैदिक मंत्र है, वह भी इसी सत्य को दुहराता है, कांडात्कांडात्प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि। एवानो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च'। तितिक्षा ही के कारण उस संस्कृति की एक

शाखा उच्छिन्न होते ही दूसरी शाखा निकल आयी है। जितने ही उस पर मार्मिक आघात हुए हैं, उतने ही शत-सहस्र उमंगों के साथ वह पनपी है। इसी के कारण उसे अप्रतिहत मांगलिक स्वरूप प्राप्त हुआ है और इसी के कारण वह भारत की धरती से इतनी हियलगी बन रही है कि बिना उसके उसका कोई मांगलिक छिड़काव नहीं संपन्न होता है।

दूर्वा की नोक से जब हल्दी छिड़की जाती है तो ऐसा लगता है कि तितिक्षा के अग्रभाग से साक्षात् सौभाग्य छिड़का जा रहा हो। हल्दी-दूब का यह संयोग सत्त्व को चिद् और आनंद का मंगलमय परिधान देता है। नहीं तो अपने में सत्त्व निरापद और अशिव है। उसको अपना गौरव चिद् और आनंद के सुखद संयोग में ही प्राप्त होता है। शायद इसीलिए वह राष्ट्र के प्रतीक में हल्दी और दूब के योग का मध्यमान बन गया है।

हल्दी जब तक नहीं लगती, तब तक श्वेत-से-श्वेत वस्त्र अपरिधेय ही बना रहता है। हल्दी जब तक नहीं, तब तक कौमार्य अपरिणेय ही रहता है। हल्दी जब तक नहीं पड़ती, तब तक रसवती अप्रेय ही रहती है। इसलिए जब अक्षय तृतीया को पहला हल खेत में जाने लगता है; तब हल, बैल और हलवाहा तीनों ही हल्दी से टीके जाते हैं। जब पहला बीज धरती में पड़ने जाता है तब खेतिहर, खेत, बीज और कुदाली चारों हल्दी से छिड़के जाते हैं, जब मातृत्व की सफलता में नारी उतरने को होती है, तब उसके नैहर से आयी हुई हल्दी-रंगी पियरी और हल्दी-रंगी झँगुली ही उसको तथा उसके लाल को कुल के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। जब कुमारी सुहागिन बनने को होती है, तब उसके अंग-अंग को हल्दी ही असीस देती है और नख-शिख हल्दी से रंगकर ही सौंदर्य-सौभाग्य का सिंदूरदान पाता है। जिसको हल्दी नहीं लगती, वह धरती परती पड़ जाती है। जिस पर हल्दी नहीं खिलती, वह नारी सौंदर्य का अभिशाप बन जाती है। जिसको हल्दी नहीं चढ़ती वह कन्या आकांक्षा की अछोर डोर बन जाती है, क्योंकि हल्दी के ही गर्भ में धरती का सच्चा अनुराग-तत्त्व छिपा रहता है, हल्दी की ही गाँठ में स्नेह का अवशेष हृदय से आमंत्रण बँधा रहता है,

हल्दी में ही रंगकर श्याम दूर्वाभिराम हो जाते हैं और हल्दी के छूने ही से मंगल की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है। इसी से यद्यपि उसके लिए वेद ने आग्रह नहीं किया; पर लोक के अंतर का आग्रह था, वह हल्दी मंगल-विधि में अपरिहार्य बन गयी, उस हल्दी को संस्कृत वालों ने इसी से 'वर्णक' संज्ञा दी, मानो वर्ण की सार्थकता हल्दी में ही अर्पित हो गयी हो, दूसरे वर्ण इसके आगे अपार्थ हो गये हों। हल्दी वस्तुतः उस लोक-हृदय की सुरक्षित थाती है, जिसने नये-नये देव और मंत्र तो स्वीकार किये; पर जिसकी उपासना के उपादान वैसे ही सँजोये रहे और जिसकी आस्था के रंग वैसे ही चटकीले बने रहे।

हल्दी-दूब इस देश की संस्कृति को रूप और सौंदर्य-स्पर्श देते रहे हैं, कमल गंध देता रहा है; पर दधि-अच्छत, रस तथा शब्द देते रहे हैं। जिस प्रकार शब्द से आकाश भर जाता है, उसी प्रकार से अक्षत से अर्चन की थाली भर जाती है। जिस देश के बाहर-भीतर सभी आकाशों में युगों से अक्षत ब्रह्म का नाद आपूरित होता रहा हो, उस देश की जनकल्याणी अन्तरात्मा को आसन देने के लिए इसी से अक्षत से बढ़कर कोई सामग्री उपयुक्त नहीं समझी गयी और वह अक्षत संस्कृत व्याकरण की महिमा से बराबर बहुवचन में केवल इसीलिए प्रयुक्त रहा कि बहुजन-हितार्थ का बोध उससे होता रहे।

दही उस संस्कृति की कपिला वाणी की साक्षात् रसमयी प्रतिमा है। दूध से यौवन में उफान का बोध भले ही होता रहे, माखन से मन की एकता भी और घृत से आयुष्य की लक्षणा भी बनती रहे; पर इष्टता की प्राप्ति दही में होती आयी है और इसीलिए सही माने में गोरस केवल दही ही है। जिस दही के दान के लिए इस देश के परब्रह्म हाथ पसारते रहे हों, जिस दही के मटके के लिए मंगलविधि तरसती रही हो, वह दही अपने समस्त गुणों में उस देश की सांस्कृतिक विवर्तशीलता तथा अन्तर्ग्रहण-शीलता का प्रतिमान है। दूध में खटाई पड़ते ही वह फट जाता है, दूध में नमक की एक छोटी-सी डली भी पड़े, तो वह विषतुल्य हो जाता है; पर

दही खटाई, मिठाई, लुनाई सभी स्वादों से समरस होने वाला एक विलक्षण आस्वादन है। उसमें दूध के उफान या घी के पिघलेपन से अधिक धीमी आँच में तपने के कारण एक स्थिर रूपता है। ठीक यही बात उस दही से अभिव्यंजमान संस्कृति के बारे में भी कही जा सकती है, सभी रसों से मेल रखती हुई भी अपने रस में सबको समाविष्ट करती हुई और क्षणिक उत्ताप या द्रवण से अप्रभावित रहकर साम्य-निदर्शन करती हुई वह सच्चे अर्थ में दधि से अधिक 'उर ईठी' बन गयी है। उसकी ऐसी महिमा है कि उसके छाछ के लिए तो इन्द्र तक तरसते ही हैं, स्वयं सच्चिदानन्द तक को 'अहीर की छोहरियाँ तक छछिया भर छाछ पर' नाच नचा देती हैं। उसके मंथन से केवल अमृतमय नवनीत निकलता है।

सौभाग्य, तितिक्षा, स्नेह तथा परिपूर्णता के लिए आग्रह-रूप में उस संस्कृति की पूजा की थाली हल्दी, दूब और दधि-अच्छत से सजायी जाती रही है और सजायी जाती रहेगी, पर पूजा का मर्म उसी को खुलेगा, जो लोक-जीवन की मंगल-साधना में अपने को तन्मय कर सकेगा और वह तन्मयता ग्रामसेवक या गाँवसाथी बनने से नहीं आयेगी, उसे पाने के लिए मन से गँवार बनना होगा, शहरी संस्कारों को एकदम धो देना होगा। बिना उसके, हल्दी, दूध और दधि अर्थशून्य आडंबर ही लगेंगे। ये सभी मंगलद्रव्य अभिव्यंजन हैं, अभिधान नहीं। अभिधान को प्रकट करने में हम दोष मानते हैं और अभिव्यंजन के लिए सहृदयता की जरूरत पड़ती है, बिना उसके उसका अर्थ रस बनकर आस्वाद्य नहीं होता। आज संस्कृति का अभिधान तो है, जो न होता तो अच्छा होता; पर उसका अभिव्यंजन नहीं है, उस अभिव्यंजन को न पाकर ही साहित्य रिक्त है, सांस्कृतिक जीवन भी मृदंग की भाँति मुखर होते हुए भी खोखला है। आज जीवन में उस अभिव्यंजन को भरने की ललक इसीलिए सबसे अधिक है और इसी से हल्दी, दूब और दधि-अच्छत का मान अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रह सकेगा।

*

रजिया

रामवृक्ष बेनीपुरी

कानों में चाँदी की बालियाँ, गले में चाँदी का हैकल, हाथों में चाँदी के कंगन और पैरों में चाँदी की गोडाई—भर बाँह की बूटेदार कमीज पहने, काली साड़ी के छोर को गले में लपेटे, गोरे चेहरे पर लटकते हुए कुछ बालों को संभालने में परीशान, वह छोटी-सी लड़की जो उस दिन मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी थी—अपने बचपन की उस रजिया की स्मृति ताजा हो उठी, जब, मैं भी उस दिन अचानक उसके गाँव में जा पहुँचा !

हाँ, यह मेरे बचपन की बात है। मैं कसाईखाने से रस्सी तुड़ाकर भागे हुए बछड़े की तरह उछलता हुआ अभी-अभी स्कूल से आया था और बरामदे की चौकी पर अपना बस्ता-सिलेट पटककर मौसी से छठ में पके ठेकुए लेकर उन्हें कुतर-कुतर कर खाता हुआ ढेंकी पर झूला झूलने का मजा पूरा करना चाह रहा था कि उधरसे आवाज आयी—देखना, बबुआ का खाना मत छू देना—और उसी आवाज के साथ मैंने देखा, यह अजीब रूप-रंग की लड़की मुझसे दो-तीन गज आगे खड़ी हो गयी।

मेरे लिए यह रूप-रंग सचमुच अजीब था। ठेठ हिंदुओं की बस्ती है मेरी और मुझे मेले-पेठिए में भी अधिक नहीं जाने दिया जाता। क्योंकि सुना है, बचपन में मैं एक मेले में खो गया था, मुझे कोई औघड़ लिये जा रहा था कि गाँव की एक लड़की की नजर पड़ी और मेरा उद्धार हुआ। मैं माँ-बाप का एकलौता—माँ, चल बसी थी, इसलिए उनकी इस एकमात्र धरोहर को मौसी आँखों में जुगोकर रखतीं। मेरे गाँव में भी लड़कियोंकी कमी नहीं, किंतु न उनकी यह वेष-भूषा, न यह रंग-रूप ? मेरे गाँव की

लड़कियाँ कानों में बालियाँ कहाँ डालतीं और भर बाँह की कमीज भी उन्हें कभी नहीं पहने देखा। और, गोरे चेहरे तो मिले हैं, किंतु इसकी आँखों में जो एक अजीब किस्म का नीलापन दीखता, वह कहाँ ? और समूचे चेहरे की काट भी कुछ निराली जरूर—तभी तो मैं उसे एकटक घूरने लगा।

यह बोली थी रजिया की माँ, जिसे प्रायः ही अपने गाँव में चूड़ियों की खँचिया लेकर आते देखता आया था। वह मेरे आँगन में चूड़ियों का बाजार पसारकर बैठी थी और कितनी बहू-बेटियाँ उसे घेरे हुए थीं। मुँह से भाव-साव करती और हाथ से खरीदारिनों के हाथ में चूड़ियाँ चढ़ातीं वह सौदे पटाये जा रही थी। अब तक उसे अकेले ही आते-जाते देखा था, हाँ, कभी-कभी उसके पीछे कोई मर्द होता जो चूड़ियों की खाँची ढोता। यह बच्ची आज पहली बार आयी थी और न जाने किस बालसुलभ उत्सुकता ने उसे मेरी ओर खींच लिया था। शायद वह यह भी नहीं जानती थी कि किसी के हाथ का खाना किसी के निकट पहुँचने से ही छू जाता है। माँ जब अचानक चीख उठी, वह ठिठकी, सहमी—उसके पैर तो वहीं बँध गये, किंतु इस ठिठक ने उसे मेरे बहुत निकट ला दिया, इसमें संदेह नहीं।

मेरी मौसी झट उठीं, घर में गयीं और दो ठेकुए और एक कसार लेकर उसके हाथों में रख दिये। वह लेती नहीं थी, किंतु अपनी माँ के आग्रह पर हाथ में रख तो लिया, किंतु मुँह से नहीं लगाया। मैंने कहा—खाओ न ? क्या तुम्हारे घर में ये सब नहीं बनते ? छठ का व्रत नहीं होता ? कितने प्रश्न—किंतु सबका जवाब 'न' में ही और वह भी मुँह से नहीं, जरा-सा गर्दन हिलाकर। और गर्दन हिलाते-हिलाते ही चेहरे पर गिरे बाल की जो लटें हिल-हिल उठतीं, वह उन्हें परीशानी से सम्हालने लगती।

जब उसकी माँ नयी खरीदारिनों की तलाश में मेरे आँगन से चली, रजिया भी उसके पीछे हो ली। मैं खाकर, मुँह धोकर, अब उसके निकट था और जब वह चली, जैसे उसकी डोर में बँधा थोड़ी दूर तक घिसटता गया। शायद मेरी भावुकता देखकर चुड़िहारिनों के मुँह पर खेलने वाली अजस्र हँसी और चुहल में ही उसकी माँ बोली—बबुआजी, रजिया

से ब्याह कीजियेगा ? फिर बेटी की ओर मुखातिब होती, मुस्कराहट में कहा—क्यों रे रजिया, यह दूल्हा तुम्हें पसंद है। उसका यह कहना, कि मैं मुड़कर भागा। ब्याह ? एक मुसलमानिन से ? अब रजिया की माँ ठठा रही थी और रजिया सिमटकर उसके पैरों में लिपटी थी, कुछ दूर निकल जाने पर मैंने मुड़कर देखा।

रजिया, चुड़िहारिन, वह इसी गाँव की रहने वाली थी। बचपन में इसी गाँव में रही और जवानी में भी। क्योंकि मुसलमानों में गाँवों में ही शादी हो जाती है न ? और, यह अच्छा हुआ—क्योंकि बहुत दिनों तक प्रायः ही उससे अपने गाँव में ही भेंट हो जाया करती थी।

मैं पढ़ते-पढ़ते बढ़ता गया। बढ़ने पर पढ़ने के लिए शहरों में जाना पड़ा। छुट्टियों में जब-तब आता। इधर रजिया पढ़ तो नहीं सकी, हाँ बढ़ने में मुझसे पीछे नहीं रही। कुछ दिनों तक अपने माँ के पीछे-पीछे घूमती फिरी। अभी उसके सिर पर चूड़ियों की खँचिया तो नहीं पड़ी, किंतु खरीदारिनों के हाथों चूड़ियाँ पिन्हाने की कला वह जान गयी थी। उसके हाथ मुलायम थे, बहुत मुलायम नयी बहुओं की यही राय थी। वे इसी के हाथ से चूड़ियाँ पहनना पसंद करतीं। उसकी माँ इससे प्रसन्न ही हुई—जब तक रजिया चूड़ियाँ पिन्हाती, वह नयी-नयी खरीदारिनें फँसाती।

रजिया बढ़ती गयी। जब-जब भेंट होती, मैं पाता उसके शरीर में नये-नये विकास हो रहे हैं। शरीर में और स्वभाव में भी। पहली भेंट के बाद पाया था, वह कुछ प्रगल्भ हो गयी है—मुझे देखते ही दौड़कर निकट आ जाती, प्रश्न पर प्रश्न पूछती। अजीब अटपटे प्रश्न—देखिये तो ये नयी बालियाँ, आपको पसंद हैं ? क्या शहरों में ऐसी बालियाँ पहनी जाती हैं ? मेरी माँ शहर से चूड़ियाँ लाती है, मैंने कहा है, वह इस बार मुझे भी ले चले। आप किस तरफ रहते हैं वहाँ ? क्या भेंट हो सकेगी—वह बके जाती, मैं सुनता जाता। शायद जवाब की जरूरत वह भी नहीं महसूस करती।

फिर कुछ दिनों बाद पाया, वह अब कुछ सकुचा रही है। मेरे निकट आने के पहले वह इधर-उधर देखती और जब कुछ बातें करती, तो ऐसी

चौकन्नी-सी कि कोई देख न ले, सुन न ले। एक दिन जब वह इसी तरह बातें कर रही थी कि मेरी भौजी ने कहा—देखियो री रजिया, बबुआजी को फुसला नहीं लीजियो। वह उनकी ओर देखकर हँस तो पड़ी, किंतु मैंने पाया, उसके दोनों गाल लाल हो गये हैं और उन नीली आँखों के कोने मुझे सजल-से लगे। मैंने ध्यान दिया, जब हम लोग कहीं मिलते हैं, बहुत-सी आँखें हम पर भालों की नोक ताने रहती हैं।

रजिया बढ़ती गयी, बच्ची से किशोरी हुई और अब जवानी के फूल उसके शरीर पर खिलने लगे हैं। अब भी वह माँ के साथ ही आती है, किंतु पहले माँ की एक छाया मात्र लगती थी, अब उसका स्वतंत्र अस्तित्व है और उसकी छाया बनने के लिए कितनों के दिलों में कसमसाहट है! जब वह बहनों को चूड़ियाँ पिन्हाती है, कितने भाई तमाशे देखने को वहाँ एकत्र हो जाते हैं। क्यों? बहनों के प्रति भ्रातृत्वभाव या रजिया के प्रति एक अज्ञात आकर्षण वहाँ लाता है उन्हें। जब बहुओं के हाथों में चूड़ियाँ ठेलती होती है, पतिदेव दूर खड़े कनखियों से देखते होते हैं—क्या? अपनी नवोढ़ा की कोमल कलाइयों को, या इन कलाइयों पर क्रीड़ा करती हुई रजिया की पतली उँगलियों को? और, जैसे रजिया को इसमें रस मिलता है। पतियों से चुहलें करने से वह बाज नहीं आती—बाबू, बड़ी महीन चूड़ियाँ हैं, ज़रा देखियेगा कहीं चटक न जायें। पतिदेव भागते हैं, बहुएं खिल-खिलाती हैं, रजिया ठट्ठा लगाती है। अब वह अपने पेशे में निपुण होती जाती है।

हाँ, रजिया अपने पेशे में भी निपुण होती जाती थी। चूड़िहारिन के पेशे के लिए सिर्फ यही नहीं चाहिए कि उसके पास रंग-बिरंग की चूड़ियाँ हों सस्ती, टिकाऊ, टटके से टटके फैशन की। बल्कि यह पेशा चूड़ियों के साथ चूड़िहारिनों के बनाव-श्रृंगार, रूप-रंग, नाजो-अदा भी खोजता है जो चूड़ी पहननेवालियों को ही नहीं, उनको भी मोह सके, जिनकी जेब से चूड़ियों के लिए पैसे निकलते हैं सफल चूड़िहारिन वह! यह रजिया की माँ भी किसी जमाने में क्या कुछ कम रही होगी- खँडहर कहता है, इमारत शानदार थी।

ज्यों-ज्यों शहर में रहना बढ़ता गया, रजिया से भेंट भी दुर्लभ होती गयी। और, एक दिन वह भी आया, जब बहुत दिनों पर उसे अपने गाँव में देखा, पाया उसके पीछे एक नौजवान चूड़ियों की खाँची सिर पर लिये है। मुझे देखते ही वह सहमी, सिकुड़ी और मैंने मान लिया, यह उसका पति है। किंतु तो भी अनजान-सा पूछ ही दिया—'इस मजूरे को कहाँ से उठा लायी है रे ?' 'इसी से पूछिए, साथ लग गया तो क्या करूँ।' नवजवान मुस्कराया, रजिया विहँसी, बोली—'यही मेरा खाविंद है मालिक।'

खाविंद ! बचपन की उस पहली मुलाकात में उसकी माँ ने दिल्लगी-दिल्लगी जो कह दिया था, न जाने वह बात कहाँ सोई पड़ी थी ! अचानक वह जगी और मेरी पेशानी पर उस दिन शिकन जरूर उठ आयी होगी, मेरे विश्वास है। और, एक दिन वह भी आया, कि मैं भी खाविंद बना। मेरी रानी को सुहाग की चूड़ियाँ पहनाने उस दिन रजिया आयी और उस दिन मेरे आँगन में कितनी धूम मचायी इस नटखट ने, यह लूँगी, वह लूँगी और ये मुँहमाँगी चीजें नहीं मिलीं, तो 'वह' लूँगी कि दुलहिन टापती रह जायेंगी। हट-हट तू बबुआजी को ले जायगी, तो फिर तुम्हारा यह हसन क्या करेगा—भौजी ने कहा। यह भी टापता रहेगा बहुरिया, कहकर रजिया ठट्ठा मारकर हँसी और दौड़कर हसन से लिपट गयी। ओ हो मेरे राजा, कुछ दूसरा न समझना। हसन भी हँस पड़ा। रजिया अपनी प्रेम-कथा सुनाने लगी। किस तरह यह हसन उसके पीछे पड़ा, किस तरह झंझटें आयीं, फिर किस तरह शादी हुई और वह आज भी किस तरह छाया सा उसके पीछे घूमता है—न जाने कौन-सा डर लगा रहता है इसे। और फिर, मेरी रानी की कलाई पकड़कर बोली—मालिक भी तुम्हारे पीछे इसी तरह छाया की तरह डोलते रहें दुल्हन ! सारा आँगन हँसी से भर गया था। और उसी हँसी में रजिया के कानों की बालियों ने अजीब चमक भर दी थी—मुझे ऐसा ही लगा था।

जीवन का रथ खुरदुरे पथ पर बढ़ता गया—मेरा भी, रजिया का भी। इसका पता उस दिन चला, जब बहुत दिनों पर उससे अचानक पटना

में भेंट हो गयी। यह अचानक बात तो थी, किंतु क्या इसे भेंट कहा जाये।

मैं आजकल ज्यादा तर घर से दूर दूर ही रहता। कभी एकाध दिनों के लिए घर गया, शाम को गया, सुबह भागा। तरह-तरह की जिम्मेदारियाँ, तरह-तरह के जंजाल। इन दिनों पटना में था, यों कहिए, पटनासीटी में। एक छोटे से अखबार में था, पीर-बावर्ची-भिश्ती की तरह। यों तो लोग समझते कि मैं सम्पादक ही हूँ। उन दिनों इतने अखबार थे, न इतने संपादक। इसलिए मेरी बड़ी कदर है, यह मैं जानता। जब कभी दफ्तर से निकलता, देखता, लोग मेरी ओर, उँगली उठा के फुसफुसा रहे हैं। लोगों का मुझ पर यह ध्यान—मुझे हमेशा अपनी पद-प्रतिष्ठा का ख्याल रखना पड़ता।

एक दिन मैं चौक के एक प्रसिद्ध पानवाले की दुकान पर पान खा रहा था। मेरे साथ मेरे प्रशंसक नवयुवक थे, एक-दो बुजुर्ग भी आकर खड़े हो गये। हम पान खा रहे और कुछ चुहलें चल रही थीं कि एक बच्चा आया और बोला, बाबू, वह औरत आपको बुला रही है।

औरत, बुला रही, चौक पर ! मैं चौक पड़ा। युवकों में थोड़ी हलचल बुजुर्गों के चेहरे पर की रहस्यमयी मुस्कान भी मुझसे छिपी नहीं रही। औरत कौन? मेरे चेहरे पर गुस्सा था, वह लड़का सिट-पिटाकर भाग गया?

पान खाकर लोग इधर-उधर चले, अचानक पाता हूँ, मेरे पैर उस ओर उठ रहे हैं जिस ओर उस बच्चे ने उँगली से इशारा किया था। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर पीछे देखा, परिचितों में से कोई देख तो नहीं रहा है। किंतु इस चौक की शाम की रूमानी फिजा में किसी को किसी ओर देखने की कहाँ फुर्सत। मैं आगे बढ़ता गया और वहाँ पहुँचा, जहाँ उससे पूरब वह पीपल का पेड़ है। वहाँ पहुँच ही रहा था कि देखा, पेड़ के नीचे चबूतरे की तरफ से एक स्त्री बढ़ी आ रही है। और निकट पहुँचकर कह उठी—सलाम मालिक !

धक्-सा लगा। किंतु पहचानते देर नहीं लगी—उसने ज्यों ही सिर उठाया, चाँदी की बालियाँ जो चमक उठीं।

रजिया ! यहाँ कैसे ? मेरे मुँह से निकल पड़ा ।

सौदा-सुलफ करने आयी हूँ मालिक ! अब तो नये किस्म के लोग हो गये न ? अब लाह की चूड़ियाँ कहाँ किसी को भाती हैं । नये लोग, नयी चूड़ियाँ । साज-सिंगार की कुछ और चीजें भी ले जाती हूँ—पौडर, क्लिप, क्या-क्या चीजें न ? नया जमाना, दुल्हनों के नये मिजाज ।

फिर जरा-सा रुककर बोली—सुना था, आप यहीं रहते हैं । कहाँ रहते हैं मालिक ? मैं तो अक्सर आया करती हूँ ।

और जब तब पूछूं कि अकेली हो या… कि एक अधवयस आदमी ने आकर सलाम किया । यह हसन था । लंबी-लंबी दाढ़ियाँ, पाँच हाथ का लंबा मुस्तंडा भी । देखिये मालिक, यह आज भी मेरा पीछा नहीं छोड़ता ! यह कहकर रजिया हँस पड़ी । अब रजिया वह नहीं थी, किंतु उसकी हँसी वही थी । वही हँसी, वही चुहल । इधर उधर की बहुत-सी बातें करती रही और न जाने कब तक जारी रखती कि मुझे याद आया, मैं कहाँ खड़ा हूँ और अब मैं कौन हूँ ? कोई देख ले तो !

किंतु वह फुर्सत दे तब न । जब मैंने जाने की बात की, हसन की ओर देखकर बोली—क्या देखते हो, जरा पान भी तो मालिक को खिलाओ, कितनी बार हुमच-हुमचकर भरपेट ठूंस चुके हो बाबू के घर ।

जब हसन पान लाने चला गया, रजिया ने बताया, किस तरह दुनिया बदल गयी है । अब तो ऐसे गाँव हैं जहाँ के हिंदू मुसलमानों के हाथ से सौदे नहीं खरीदते । अब हिंदू चुड़िहारिनें हैं, हिंदू दरजी हैं । इसलिए रजिया ऐसे खान्दानी पेशेवालों को बड़ी दिक्कत हो गयी है । किंतु रजिया ने यह खुशखबरी सुनायी, मेरे गाँव में यह पागलपन नहीं और मेरी रानी तो सिवा रजिया के किसी दूसरे के हाथ से चूड़ियाँ लेती ही नहीं ।

हसन का लाया पान खाकर जब मैं चलने को तैयार हुआ, वह पूछने लगी, मेरा डेरा कहाँ है । मैं बड़े पेशोपेश में पड़ा । डरिये मत मालिक, अकेले नहीं आऊंगी, यह भी रहेगा । क्या मेरे राजा— यह कहकर वह हसन से लिपट पड़ी । पगली, यह शहर है शहर । यों…हसन हँसते हुए

उससे बाँहें छुड़ायी और बोली, बाबू बाल-बच्चों वाली हो गयी, किंतु इसका बचपना नहीं गया।

और दूसरे दिन पाता हूँ, रजिया मेरे डेरे पर हाजिर है। मालिक, ये चूड़ियाँ रानी के लिए—कहकर मेरे हाथों में चूड़ियाँ रख दीं। मैंने कहा, तुम तो घर पर जाती ही हो, लेती जाओ, वहीं दे देना।

नहीं मालिक, एक बार अपने हाथ से भी पिन्हा देखिए ? वह खिल-खिला पड़ी। और जब मैंने कहा—अब इस उम्र में। तो वह हसन की ओर देखकर बोली, पूछिए इससे, आज तक मुझे यही चूड़ियाँ पिन्हाता है या नहीं ? और जब हसन कुछ शरमाया, वह बोली—घाघ है मालिक, घाघ, कैसा मुँह बना रहा है इस समय, लेकिन जब हाथ-में-हाथ लेता है··· ठठाकर हँस पड़ी इतने जोर से कि मैं चौंककर चारों तरफ देखने लगा।

हाँ, तो अचानक उस दिन उसके गाँव में पहुँच गया। चुनाव का चक्कर, जहाँ न ले जाये, जिस औघट-घाट पर न खड़ा कर दे। नाक में पेट्रोल के धुएँ की गंध, कान में सायँ-सायँ की आवाज, चेहरे पर गर्द-गुबार का अंबार—परेशान बदहवास, किंतु उस गाँव में ज्यों ही मेरी जीप घुसी, मैं एक खास किस्म की भावना से अभिभूत हो गया।

यह रजिया का गाँव है, यहाँ रजिया रहती थी ! किंतु क्या आज मैं यह भी पूछ सकता हूँ कि यहाँ कोई रजिया नाम की चुड़िहारिन रहती थी, या है ? हसन का नाम लेने में भी शर्म लगती थी। मैं वहाँ नेता बनकर गया था। मेरा जय-जयकार हो रहा था, कुछ लोग मुझे घेर खड़े थे। जिसके दरवाजे पर जाकर पान खाऊँगा, वह अपने को बड़भागी समझेगा। जिससे दो बातें कर लूँगा वह स्वयं चर्चा का एक विषय बन जायगा। इस समय मुझे कुछ ऊँचाई पर ही रहना चाहिए।

जीप मे उतरकर लोगों से बातें कर रहा था, या यों कहिये कि कल्पना के पहाड़ पर खड़े होकर एक आने वाले स्वर्ण-युग का संदेश लोगों को सुना रहा था, किंतु दिमाग में कुछ गुत्थियाँ उलझी थीं। जीभ अभ्यासवश एक काम किये जा रही थी, अंतर्मन कुछ दूसरा ही ताना-बाना बुन रहा था।

दोनों में कोई तारतम्य न था, किंतु इसमें से किसी एक की गति में भी बाधा क्या डाली जा सकती थी ?

कि अचानक, लो यह क्या ? वह रजिया चली आ रही है। रजिया ! वह बच्ची। अरे रजिया फिर बच्ची हो गयी ? कानों में वे ही बालियाँ, गोरे चेहरे पर वे ही नीली आँखें, वही भर बाँह की कमीज, वे ही कुछ लटें जिन्हें सम्हालती बढ़ी आ रही है। बीच में चालीस-पैंतालिस साल का व्यवधान। अरे, मैं सपना तो नहीं देख रहा ? दिन में सपना ? वह आती है, गब्बर ऐसी भीड़ में घुसकर मेरे निकट पहुँचती है, सलाम करती है और मेरा हाथ पकड़कर कहती है—चलिए मालिक मेरे घर।

मैं भौंचक्का, कुछ सूझ नहीं रहा, कुछ समझ में नहीं आ रहा। लोग मुस्करा रहे हैं। नेताजी, आज आपकी कलई खुलकर रही। नहीं। यह सपना है कि कानों में सुनायी पड़ा, एक कह रहा है—कैसी शोख लड़की। और दूसरा बोलता है ठीक अपनी दादी जैसी। और तीसरे ने मेरे होश की दवा दी—यह रजिया की पोती है बाबू ! बेचारी पड़ी है। आपकी चर्चा अक्सर किया करती है। बड़ी तारीफ करती है ! बाबू फुर्सत हो तो जरा देख लीजिये, न जाने बेचारी जीती है या —

मैं रजिया के आँगन में खड़ा हूँ। ये छोटे-छोटे साफ-सुथरे घर, यह लिपा-पुता चिक्कन-ढुर-ढुर आँगन। भरी-पुरी गृहस्थी—मेहनत और दयानत की देन। हसन चल बसा है किंतु अपने पीछे तीन हसन छोड़ गया है। बड़ा बेटा कलकत्ता कमाता है, मँझला पुश्तैनी पेशे में लगा है, छोटा शहर में पढ़ रहा है। यह बच्ची, बड़े बेटे की बेटी। दादा का सिर पोते में, दादी का चेहरा पोती में। हूबहू रजिया—दूसरी रजिया मेरी उँगली पकड़े आँगन से पुकार रही है—दादी ओ दादी, घर से निकल, मालिक दादा आ गये। किंतु पहली रजिया निकल नहीं रही। कैसे निकले ? बीमारी के मैले-कुचैले कपड़े में मेरे सामने कैसे आये !

रजिया ने अपनी पोती को तो भेज दिया, किंतु उसे विश्वास न हुआ कि हवागाड़ी पर आने वाला नेता अब उसके घर तक आने की तकलीफ

कर सकेगा ? और जब सुना, मैं आ रहा हूँ, तो बहूओं से कहा, जरा मेरे कपड़े तो बदलवा दो—मालिक से कितने दिनों पर भेंट हो रही है न ?

उसकी दोनों पतोहुएँ उसे सहारा देकर आँगन में ले आयीं। रजिया—हाँ, मेरे सामने रजिया खड़ी थी। दुबली-पतली रूखी-सूखी। किंतु जब नजदीक आकर उसने 'मालिक सलाम' कहा, उसके चेहरे से एक क्षण के लिए झुर्रियाँ कहाँ चली गयीं, जिन्होंने उसके चेहरे को मकड़जाला बना रखा था। मैंने देखा, उसका चेहरा अचानक बिजली के बल्ब की तरह चमक उठा और चमक उठीं वे नीली आँखें, जो कोटरों में धँस गयी थीं। और, अरे चमक उठी हैं आज फिर वे चाँदी की बालियाँ और देखो, अपने को पवित्र कर लो, उसके चेहरे पर फिर अचानक लटककर चमक रही हैं वे लटें, जिन्हें समय ने धो-पोंछकर शुभ्र-श्वेत बना दिया है।

●

धन्यवाद

सियारामशरण गुप्त

संपादक महोदय ने मेरा लेख लौटा दिया है। यों ही नहीं लौटा दिया है, 'धन्यवादपूर्वक' लौटाया है। यह 'धन्यवाद' किस बात का?

लेख उन्हें ऐसा पढ़ना पड़ा, जो उनके काम का न था। इस बीच में संभव है, वे ऐसा कुछ पढ़ते जो उनके उपयोग में आता। सोचा जा सकता है, सुनहली जिल्द के बढ़िया लिबास में कोई विदेशी लेखक उस समय उनकी मेज पर होगा। उससे उन्हें कहना पड़ा होगा – आप जरा ठहरें। यह कोई सुखद बात नहीं हुई। और फिर इसके बाद मेरा लेख पढ़कर उन्हें मेरी असफलता से भी कष्ट पहुँच सकता है। मेरा लेख उन्होंने लौटा दिया है, फिर भी यह कैसे कहूँ कि वे निर्दय हैं। प्रत्येक सुहृदय को दूसरे के दुःख से दुःख होना चाहिए। इतने पर भी धन्यवाद उन्होंने मुझे दिया है। इस धन्यवाद की गुरुता एक बात से और बढ़ जाती है। लेख लौटाने के लिए डाकखर्च मैंने नहीं भेजा था। किसी अन्य लेखक को भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए। साथ में डाक के टिकट होने से लेख को पढ़े बिना ही संपादक के मन में लेखक के प्रति एक हीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है। और दूसरी बात, अपना लेख वापस करवाने में लेखक ही संपादक की सहायता पैसे से करे, यह बुद्धिमानी नहीं है।

यह तो हुआ संपादक महोदय का दिया धन्यवाद कहाँ रक्खूं, यह समझ में नहीं आता। किसी अकिंचन ने एक विशेष अवसर पर अपने किसी धनी बंधु को कोई उपहार भेजा। दूसरे दिन वह देखता है कि उसका उपहार लौट आया है और उसी के साथ दस रुपये का एक नोट भी है।

पाने वाले के लिए दस रुपयों का मूल्य थोड़ा नहीं। फिर भी उसकी समझ में नहीं आता कि नोट का वह करे क्या। यही दशा इस धन्यवाद को पाकर मेरी है। न तो इसे अपने पास रख सकता हूँ और न इस कृपा के लिए अपना प्रति-धन्यवाद संपादक महोदय के पास भेज सकता हूँ। वहाँ का दरवाजा जैसे मेरे लिए बंद है।

संपादक महोदय ने मेरे लेख के विषय में कुछ नहीं लिखा है। लिखना चाहते तो लिख क्या नहीं सकते थे? लिखने की भाषा बहुत बुरी है। सूचित करते कि विषय सार्वजनिक हित का नहीं। संपादक होने के नाते यह सिखा देने का भी उनका अधिकार कम न था कि कलम इस तरह पकड़ी जाती है। ऐसी किसी बात में उत्तर-प्रत्युत्तर की कमी मेरे लिए न रहती। पर उन्होंने तो केवल 'धन्यवाद' लिखा है। मेरे लिए यह शब्द अत्यन्त दुरूह है। कहीं से इसका कोई अर्थ निकाल लो, यह प्रतिवाद नहीं करेगा। इधर से पकड़ो या उधर से, ऊपर से छुओ या नीचे से, आपत्ति इसे किसी तरह की न होगी। कुछ समझ में नहीं आता कि इस गोल लट्टू का सिरा है कहाँ पर। मान कहीं लिया जा सकता है, पर है कहीं नहीं।

ऐसे शब्द को हम निरर्थक कह सकते हैं। उनके लिए मेरा लेख निरर्थक है, मेरे लिए उनका धन्यवाद।

परंतु नहीं। उनके धन्यवाद को निरर्थक नहीं कह सकता। यह एक ऐसा सिक्का है, जो परस्पर-विरोधी देशों में एक-सा चल सकता है। 'हाँ' में इसे जितनी गुंजाइश है, उतनी ही 'नहीं' में। 'देने' में और 'न देने' में यह एक-सा उदार है।

इसे संभाल कर रखूंगा। आधुमिक सभ्यता की यह एक बहुत बड़ी देन है। अच्छे में और बुरे में, खोटे में और खरे मे, कहीं भी यह बेखटके चलाया जा सकता है।

●

रद्दी टोकरी

इन्द्रनाथ मदान

इस टोकरी के बारे में इतना ही कह सकता हूँ कि यह मेरे जीवन का एक अंग है और मैं इसका आभारी हूँ। यह इसलिए नहीं कि इस समय मेरे पास यह सबसे पुरानी चीज है और पुरानी चिज से मेरा लगाव उतना ही बढ़ता जाता है जितना पुराने विचार या व्यक्ति से घटता जाता है। इस टोकरी से अधिक पुराना केवल मैं हूँ और मैं वस्तु न होकर व्यक्ति हूँ। इसलिए अपने से भी मोह कम होता गया है। इससे अधिक पुरानी चिजों को पाकिस्तान में छोड़ना पड़ा है। इनकी याद अब भी कभी-कभी ताजा हो उठती है। मेरा नया रेडियो पुराने से बेहतर है, मेरी नयी कलम पुरानी से अधिक महँगी है, मेरी नयी कुरसी पुरानी से अधिक आराम देती है। और कभी-कभी मुझे यह भी लगता है कि इस टोकरी की वजह से मेरा दिमाग पुराने से अधिक साफ़ और खाली है। इसका कारण रद्दी टोकरी इसलिए है यह खुद रद्दी न होकर रद्दी की है या रद्दी कागजों के लिए है। यह बाहर और भीतर के जीवन को उलझने नहीं देती, इसे साफ रखने में सहायता देती है। यह न तो उन बेकार कागजों का अंबार लगने देती है जिनमें मैं उलझ जाता था और न ही उन बेकार विचारों में खोने देती है जिनमें मैं अटक जाता था। अब मैं हर पत्र को संजोने की बजाय इसे पढ़ने और इसका जवाब देने के बाद इसे फाड़कर इसमें डाल देता हूँ, हर निमंत्रण को स्वीकारने या अस्वीकारने के बाद इसमें छोड़ देता हूँ और हर इश्तहार को बिना पढ़े इसमें फेंक देता हूँ। यह हर दूसरे-तीसरे रोज फटे कागजों से उसी तरह ठस जाती है जिस तरह दिमाग अखबारी विचारों

से। इसे खाली करना इसलिए जरूरी हो जाता है कि यह मेरे दिमाग की तरह छोटी है और इसमें बहुत कुछ समा नहीं पाता। इसे बार-बार खाली करना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि बेकार ज़िंदगी कहीं बेकार चीज़ों के बोझ से अधिक भारी न बन जाये। भारतीय रेलवे का भी बोझ के बारे में यही उपदेश है; परंतु इसका पालन बहुत कम होता है। उपदेशों के पालन का युग ही बीत गया लगता है। तीसरे दरजे के डिब्बों में इस बात का पूरा एहसास हो जाता है कि देश की आबादी न केवल देश के लिए भार बनती जा रही है बल्कि अपने लिए भी। धरती ही इतना बोझ उठा सकती है। इसलिए यह शायद माँ है।

मेरे पास जब यह टोकरी नहीं थी तब जीवन में संकुलता अधिक गहरी थी। पत्रों के अंबार लगे रहते थे, पत्र-पत्रिकाओं की तहें जमी रहती थीं, इश्तहारों के ढेर लग जाते थे, अनछपे लेखों के पन्ने जमा हो जाते थे। एक दिन यह टोकरी जन्मदिन के अवसर पर मुझे भेंट में मिली। मेरे मित्र ने यह अनुभव किया कि मुझे इसकी बड़ी आवश्यकता है। उसने मुझे एक दिन पुराने पत्रों से घिरा हुआ पाया और एक और दिन पुरानी पत्रिकाओं के पन्ने उलटते हुए देखा। मेरे पिता का भी जब मन उदास हो जाता था तब वह बंद बक्सों को खोलकर नये-पुराने कपड़ों की फिर से तहें लगाने लगते थे। इस तरह वह अतीत को जीवित कर लेते थे। मैं भी अपने पिता की तरह आगत से भागने के लिए पुराने पत्रों, पत्रिकाओं को खोल बैठता था। अनागत में अंधकार था और आगत में भय। इसलिए विगत में रमने के सिवाय और चारा ही क्या था। मुझे यह मालूम नहीं था कि आगत का सामना करने के लिए और विगत से छुटकारा पाने के लिए यह टोकरी कितने काम की हो सकती है। इसके आने के बाद मेरा जन्म-दिन दूसरे जन्म के समान हो गया है। एक नये बोध ने जन्म लिया है और इस नवजात बोध की जननी यह रद्दी टोकरी है। सब पुराने पत्रों को दोबारा पढ़कर यह पाया कि इनमें एक भी रखने लायक नहीं है, पुराने लेखों को फिर से देखने पर यह लगा कि इनमें एक भी छपने

योग्य नहीं है, पुराने इश्तहारों पर एक और नजर डालने पर यह महसूस हुआ कि इनमें एक भी काम का नहीं है। इस वजन पर पुराने विचारों को फिर से आँकने पर यह तय किया कि इनमें एक भी चिपकाने लायक नहीं है। इस तरह मेरी संकुलता में कमी आने लगी। इस संकुलता से पूरी मुक्ति पाना संभव नहीं जान पड़ता। कारण, टोकरी छोटी है और यह नीचे से फट गयी है। अब तो मैं इसका इतना आभारी हूँ कि इसे छोड़ने को जी नहीं चाहता।

इस टोकरी के बिना भी जीना कठिन हो गया है। पत्रों का आना किस तरह बंद किया जा सकता है ? इनका जवाब न देना भी बड़े आदमियों को ही शोभा दे सकता है। पत्रिकाओं का छापना और भेजना भी किस तरह रोका जा सकता है ? और इश्तहारों की तो बात ही अपनी है, युग ही इन पर जीता है। हर रोज डाक की इंतजार रहती है। किसी दिन दो-दो तीन तीन बार अपना लेटरबॉक्स खोलना पड़ता है। लेटरबॉक्स टोकरी से बड़ा है। इतवार को डाक की बजाय डाकिये के आने की आशा बँध जाती है। देश की स्वाधीनता ने इतवार के दिन डाकिया को आराम देकर डाक पाने वाले के दिन को खाली कर दिया है। इतवार को या किसी और दिन जब डाक नहीं आती तब उस पागल की तरह महसूस होने लगता है जिसे गाँव के छोकरे गालियाँ नहीं देते और वह समझने लगता है कि सब मर चुके हैं। इस तरह डाक अगर आती है तो बुरा और नहीं आती तो अधिक बुरा। डाक न आने पर खाली टोकरी बुरी तरह अपना मुँह खोले रहती है और अधिक आने पर यह अपच का शिकार हो जाती है। मेरे एक मित्र को शाम के वक्त दरबार लगाने की आदत पड़ चुकी है। अगर अधिक लोग मिलने आ जाते हैं तो इनकी बेचैनी बढ़ जाती है और किसी शाम अगर एक भी नहीं टपकता तो किसी को बुलाने के लिए संदेश भेजा जाता है। यही हाल मेरा और मेरी टोकरी का है। इस तरह स्थिति मिले तो पछताये और न मिले तो पछताये की है।

इस टोकरी का मैं इसलिए भी आभारी हूँ कि इसने मुझे लोगों की

कड़वी बातों को याद करने से बचाया है, इनके उलाहनों को सुरक्षित रखने से मुक्ति दी है, अपने लेखों पर खीजने से छुटकारा दिया है। इसने मुझे यह सीख दी है कि जीवन में बहुत कुछ रद्दी होता है जिसे फेंका जा सकता है, बहुत कुछ फालतू होता है जिसे फाड़ा जा सकता है, बहुत कुछ बेकार होता है जिसे जलाया जा सकता है। एक पुरानी बात याद आ रही है। एक बार आज के विश्वविद्यालयों में शोध या खोज के स्तर आँकते हुए एक चिंतक ने यह कहने का साहस किया था कि अगर इस सारे काम को रद्दी टोकरी के हवाले कर दिया जाये तो हानि कम होगी और लाभ अधिक होगा। इस तरह हिंदी शोध के संबंध में एक आलोचक ने यह कहने की गुस्ताखी की थी कि यदि एक पुस्तक से उतारा जाये तो इसे साहित्यिक चोरी का अपराध कहा जाता है और यदि दस से उतारा जाये तो डॉक्टर की उपाधि मिल जाती है। मेरा इस मत से सहमत होना इसलिए कठिन है कि यह पाप मैंने भी कमाया है। इस स्थिति का मूल कारण वास्तव में रद्दी की टोकरी का न होना है। यह टोकरी ही नीर-क्षीर का काम कर सकती है। एक भावी साहित्यकार से मेरा परिचय है जिसने पिछले दस साल से अपनी लिखी कतरनों को संभालकर रखा हुआ है। इनके आधार पर वह मौलिक लेखक बनने की सोचता रहता है। उसका विश्वास भी मेरी तरह डोलने वाला नहीं है। यदि उसके पास यह टोकरी होती तो उसका विश्वास शायद इतना दृढ़ न होता। इस सौगात के आने पर मेरा विश्वास तो गिरता ही गया है। इसके बावजूद भी मैं इसका आभारी हूँ। अपने आभार को इस तरह व्यक्त कर मैंने इस लेख को टोकरी के हवाले कर दिया, लेकिन इन पत्रों को फाड़ना भूल गया। मेरे नौकर ने अँगीठी जलाने के लिए इन साबुत पन्नों को अलग कर टोकरी खाली और साफ कर दी। जब इनको दोबारा पढ़ा तो मुझे लगा कि ये इतने बुरे नहीं हैं जितने मैं समझता था या आप समझते हैं।

●

मकान

प्रभाकर माचवे

'मकानम् लाभकां बाशद, निशानम् वेनिशां बाशद'

(सूफी कवि रूमी)

खरगोश के सींग ? मिल सकते हैं। बालू से तेल ? मिल सकता है। हिंदी-साप्ताहिकों में प्रेस की अशुद्धियों का अभाव ? मिल सकता है। पूंजी-पति जो समाजवादी हो ? मिल सकता। परंतु दिल्ली में—या भारत के किसी भी बड़े शहर में मकान ? नहीं मिल सकता। सुनते हैं नेपोलियन के शब्दकोष में 'असम्भव' शब्द नहीं था; परंतु नेपोलियन यदि १९४७-४८ के भारत में होता, और बच्चू को अगर कहीं शरणार्थी बनना पड़ता तो....

इसलिए आजकल मैं शिष्टाचार के रूढ़ परंपरागत प्रश्न नं० २ को व्यक्तिगत अपमान समझने लगा हूँ। प्रश्न नं० १ तो आप सब जानते ही हैं-'आपका नाम ? या इस्मशरीफ ?' या 'कूण गोत हो जी ?' या हल्लो, हू आर यू!' और इसके बाद झट से टपक पड़ने वाला, परदेसी अजनबी, नवागंतुक अतिथि को पूछा जाने वाला वैसा ही पराया पराया-सा सवाल—'आप कहाँ रहते हैं ?' जी में आता है कि टका-सा जवाब देकर छुट्टी पा लूँ कि 'रहते हैं जहन्नुम में, आपसे मतलब ?' परंतु फिर दबी जबान से गला साफकर, कहना पड़ता है – [क्योंकि मुमकिन है प्रश्नकर्ता भी मकान-मालिक या उपमकान-मालिक (यह नवीन जाति हाल में पैदा हुई है; इनका काम अपने हिस्से के किराये के कमरों में से एक-दो या डेढ़-ढ़ाई कमरे 'सबलेट' करना है।) हो, और कुछ काम बन जाय।]--अतः कह

देता हूँ—'जी क्या पूछा आपने ? अभी तो अपने एक रिश्तेदार। मुलाकाती के यहाँ ठहरा हूँ, या सराय में हूँ—मकान की ही तलाश में हूँ....'

और प्रश्नकर्त्ता बजाय अपनी प्रश्न-मालिका के पुष्प आगे पिरोकर उसे लंबा बनाने या बढ़ाने के, खिड़की से बाहर बाग की ओर देखने लगता है; या शून्य-दृष्टि से रहस्यवादी की भाँति सामने पड़े मूढ़े में गूढ़ अर्थ खोजने में व्यस्त चुप मूढ़-सा बन जाता है; या फिर 'हिंदुस्तान टाइम्स' में, जिसे वह तीन बार पढ़ चुका है चौथी बार कुछ और विज्ञान-रस प्राप्त करने का निरर्थक यत्न करता है। बातचीत का 'तार' यहीं टूट जाता है—और बाद में पता लगता है कि यह तार काटने वाला, कंबख्त 'सैबैट्यूर', पंचम स्तम्भीय, 'मकान' शब्द है ! मकान का नाम लेते ही पुराने दोस्त दुश्मन बन जाते हैं; वातावरण में एक तनाव पैदा हो जाता है; धरती फट जाय, आसमान गिर पड़े, ऐसा कुछ लोगों को लगता है। क्योंकि अन्न की कमी पर तो क्षुधितों की पल्टनें 'हंगर-मार्च' कर सकती हैं; वस्त्राभाव में एक वकील अपनी बीबी की साड़ी की धोती बना पहनकर कोर्ट में जा सकता है; परंतु मकानों के अभाव में कैसे और क्या कहें ? मकान--यह व्यक्तिगत संपत्ति है, और कोई भी सरकार अथवा शासन व्यवस्था इस बात का प्रबंध नहीं कर सकती कि सबको एक-एक स्नान-गृह रसोईघर, अध्ययन-कक्ष और प्रकोष्ठादि प्राप्त हो ! यह कैसे संभव है वैसे परमपिता परमात्मा ने आकाश की छत बहुत खूबसूरत बनायी है; उसमें सितारों के झाड़-फानूस लटक रहे हैं और ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के स्तम्भ हैं। फुटपाथ या नालियों के पास सड़क की पटरी-जैसी शाहाना शय्या और कहाँ मिलेगी ? उस दिन मैंने सुना तो हैरत में रह गया कि दिल्ली, बंबई, कलकत्ता-जैसी महानगरियों में हजारों इंसान बेमकान हैं : एकदम सूफी जलालुद्दीन रूमी के अनुयायी—'मकां पूछो तो मैं ला-मकां हूँ, पता पूछो तो मैं बे-पता हूँ' !

मकान-मालिक को अंग्रेजी में 'लैंडलार्ड' और मकान-मालकिन (या 'मलिका') को 'लैंड-लेडी' क्यों कहा गया है, यह आपकी समझ में तब आयेगा; जब आप दिन भर मकान की खोज में थक गये हों और वही

सार्वजनिक मकान—फुटपाथ—का प्रश्रय ले रहे हों : जबकि उन मालिक महाराज की एक ही शहर में चार कोठियाँ खाली पड़ी हों (या उनमें चीनी, गेहूँ, चावल आदि भरा पड़ा हो !) आदमी की जिन्दगी से अधिक मूल्यवान चीनी, चावल, कपास, अलसी या जूट की जिन्दगी है ! आदमी बिना मकान फुटपाथ पर पड़ा-पड़ा ठिठुर रहा है। और चोरी से छिपाया हुआ अनाज या अन्य माल (कपड़ा आदि) मजे से खुर्राटे भर रहा है। हमारी सभ्यता इस स्तर पर आ चुकी है ! बंगाल के अकाल में खरीदार ही नहीं बच रहे थे, परंतु चावल के दाम चढ़ाकर मुनाफाखोर प्रसन्न हो रहा था। गाँधी-भक्त कंट्रोल हटाने की बहुत बात कहते हैं, उनके कहने से अगर सचमुच कंट्रोल हट गये तो मुनाफाखोरी बिना-कंट्रोल बढ़ जायगी। देश के व्यापारी-वर्ग की नैतिकता के संबध में गाँधी-भक्त अभी काफी मुगालते में है। वे समझते हैं कि व्यापार भी एक 'कला' है। वह हो न हो, पर आजकल मकान प्राप्त करना एक 'कला' ही क्या 'ललित कला', प्रकला है ! आपको 'पगडी' (यानी 'रिश्वत') अलग देनी पड़ती है, दलालों की खुशामद अलग करनी पड़ती है, मकान-मालिक के पचासों आर्डिनेंस अलग बर्दाश्त करने पड़ते हैं—जैसे 'रात को नौ बजे के बाद बत्ती नहीं जलेगी', 'जी हाँ, नहीं जलेगी !' 'नल का पानी नीचे से तीसरी मंजिल पर ले जाना होगा', 'जी हाँ ले जाएंगे !' 'छ कुटुम्बों के फ्लैट में पाखाना एक ही 'कामन' है उसे काममें लाना होगा'; 'जी हाँ, काम चला लेंगे !' और बाथरूम इत्यादि इत्यादि। 'नायिकाभेद की भाँति मकान-मालिकों के भी अनंत भेद हमें मालूम करने चाहिए। परंतु उन्हें लिखने वाला कोई देव या मतिराम अभी पैदा नहीं हुआ। उसका कारण है : आजकल दुनिया दो वर्गों में बँट गयी है—एक वे जिनके निजी मकान हैं; दूसरे वे जो किरायेदार हैं या होना चाहते हैं। इनका वर्ग-युद्ध एकदम घोर रूप से चलता रहता है। किरायेदारों के भी ट्रेड-यूनियन-जैसे संघ बनते हैं, परंतु व्यर्थ। मकानाधिपति एकदम नल काटकर या बिजली बंद करके आपको ऐसा हैरान करना शुरू करते हैं कि 'संघ-वंघ टूट जाते

हैं। फिर एक और बात है, मकान-मालिक में कुछ-कुछ जर्मनी के डिक्टेटर हिटलर-जैसी तानाशाही हिकमत होती है—यानी उसकी बात आप काट ही नहीं सकते। वह जो कुछ कहता है, वह सच है ही। अगर आप कांग्रेसी किरायेदार हैं और मकान-मालिक डॉ० खरे के पक्ष का है, तो वह चाहे गाँधी-नेहरू-पटेल एण्ड को० को गालियाँ ही बकता चला जाय, आप प्रतिवाद नहीं कर सकते। आप जानते हैं, प्रतिवाद का अर्थ है 'नोटिस' और मकान के बाहर (सड़कों पर) चलते-फिरते नजर आना !

मकान-मालिकरूपी संस्था से यह बड़ा फायदा है कि अनुशासन, आज्ञाकारिता, आदेशपालन आदि जो बड़े-बड़े नीति-वचन कहे जाते हैं, उन्हें आप अनजाने ही सीख लेते हैं – उन्हें पालने लगते हैं। मैंने यहाँ तक सुना कि एक बेचारे अविवाहित ने मकान-प्राप्ति के इस घोर कार्य में सफलता पाने के लिए मकान-मालिक की कुरूपा, भोंडी, चेचक के दाग़ों वाली, लँगड़ी, एँचकतानी, अपने से उम्र में बड़ी, अनब्याही लड़की से ब्याह करना मंजूर किया। मकान तो मिला, लड़की की क्या? रजिस्टर्ड पद्धति से सिवल-मैरेज थी, तलाक बाद में दिया जा सकता था। मकान प्राप्त करने के लिए लोग क्या क्या नहीं करते। एक किरायेदार ने मकान मालिक का फोटो छापकर उनकी बीवी की तारीफ में एक लेख छापने का वादा किया; दूसरे धर्मवीर ने अपना प्रगतिशील अधार्मिक मत छोड़कर सनातनी मकान-मालिक को खुश करने के लिए जनेऊ, चोटी, चंदन, भस्म आदि धारण करने का अभिवचन दिया और तीसरे ने तो स्वयं कट्टर 'परहेजगार' होते हुए भी मकान-मालिक से दोस्ती गाँठने के लिए उसे विलायती मधुशाला से शराब लाकर पिलायी थी। आज की दुनिया में जो कुछ हो जाय, थोड़ा है। एक हमारे दोस्त भुतहे मकान में रहने लगे, यह अभूतपूर्व घटना है। उन्हें किसी भूत ने नहीं छेड़ा, ऐसा उनका दावा है।

एक बच्चे ने परसों हमें एक पहेली बूझने को कहा—बताओ वह तीन अक्षरों का शब्द कौन-सा है जिसका पहिला और तीसरा अक्षर मिल कर जो चीज बनें वह 'एक' है, दूसरा-तीसरा अक्षर मिल कर जो चीज बने वह 'दो'

और दूसरा-पहिला अक्षर मिलकर जो चीज बने वह अनेक या 'कई' होती है। मैंने झट से उत्तर दिया – मकान। 'मन नाहीं दस-बीस' वह तो एक ही है।···कवि कह गये हैं —'मन को मन से तोलिए, दो मन कभी न होय !' और कान दो हैं ही। वैसे साँप के सुना हजार कान होते हैं, होंगे ! और 'काम' करने वालों के लिए कई हैं। वैसे निष्काम व्यक्तियों के लिए एक भी नहीं है। बर्नर्ड शॉ का कहना है कि Those who can, do; those who cannot, preach. वैसे 'काम' के दूसरे अर्थ में, यानी कामदेव के अर्थ में यहाँ जाने का उचित स्थल-काल नहीं। वह तो मनोज है। सो मकान में मेरा मन लगा हुआ है, काम मैं लेख लिखने का कर रहा हूँ और कान पड़ोस के मकान-मालिक और किरायेदारों की लड़ाई पर लगे हैं। हो गया न मैं पूरा शतावधानी !

मैं कहना यह चाहता था कि मकानों की भी कई किस्में होती हैं ! महल और मकान की बात करके मैं आपका ध्यान वर्ग-कलह की ओर नहीं ले जाना चाहता। मैं तो सीधे मध्यमवर्गीय, शहराती मकानों की ही किस्में बतलाता हूँ : चाँदनी वाले, बिना चाँदनी वाले; जिन मकानों में धूप आ सकती है, जिनमें नहीं आती; प्रकाशित-तमसावृत; हवादार कुंद; खुले दिल और दिमाग के; संकुचित गली-कूचे वाले; गैरेज वाले; बेगैरेज वाले; ऐसे जिनमें गाय (या भैंस या बकरी आदि) बँध सके, जिनमें न बँध सके; छज्जे वाले, बिना छज्जे के; पक्की नींव के, कच्ची नींव वाले इत्यादि-इत्यादि। वैसे एस्किमो लोग चाहे गोल-गोल गुफाओं में रह लें, हमारे यहाँ वेदांती संन्यासियों तथा पहुँची हुई आत्माओं को भी बाकायदा फर्श जड़े हुए, पक्के मकान जरूरी होते हैं। उन्हीं में बैठकर 'दुनिया रैन-बसेरा है' का उपदेश दिया जाता है। अधिकांश मध्यमवर्गीय मकानहीनों की [इस समास में मकान (उर्दू) और हीन (हिंदी) का कुछ अजब-सा मिलाप हो रहा है। भाषा-संबंधी इस हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए द्विराष्ट्रवादी क्षमा करें] बलवती महत्त्वाकांक्षा होती है— बस पेंशन के वक्त एक बढ़िया-सा निजी या 'निजू' मकान हो, छोटा-सा बगीचा हो और एक 'कार' हो —

और क्या चाहिए ? और वैसे 'और-और' का ओर है न छोर। 'कार' रखने को यह बेकार लोगों को इच्छा खास बुरी नहीं है, मगर सवाल इतना ही है कि अगर हरएक बाबू अपना एक-एक मकान सबसे अलहदा कटा हुआ, बंगलानुमा बनाने लग जाय (और ऐसा मकानदार बाबू बनना कौन नहीं चाहेगा ?) और बकौल समाजवादियों के अगर हर-एक किसान-मजूर भी बाबूनुमा बन गया तो इस विराट भारत देश बेचारे का क्या होगा ? इसमें तो सिर्फ २० लाख मुरब्बा मील (यह अचार-मुरब्बे में से कोई नये किस्म का खाद्य न समझें !) जगह है। उसमें से पहाड़-पहाड़ी तालाब झील-नदी, जंगल वगैरह जाकर जो रहने लायक जमीन बचेगी— उसमें से भी अब बहुत-सा भाग 'पाकिस्तान' में चला गया है—तो उस पाँच-छः लाख मुरब्बा मील में अगर यह तेंतीस करोड़ देवता अपना-अपना 'एक बँगला बने न्यारा' बनाने लगे तो अनर्थ हो जायगा ! जैसे-जैसे लोक-संख्या में वृद्धि हो रही है वैसे यदि बँगलों की संख्या में भी वृद्धि हो तो बस खेती के लिए जमीन ही न बचेगी। फिर आप बँगला ही खाइये और बँगला ही ओढ़िये। असलमें बँगले हैं इसी बलबूते पर कि कई लोग बे-बँगले वाले हैं जो खेतों में मर-खपकर गेहूँ-कपास आपके लिए पैदा करते हैं; इसलिए बँगले का-अपने-अपने 'निजू' और खास बँगले का ख्वाब गलत है। श्री अ० डांगे, जो हाल ही में रूस से लौटे हैं, अपने एक लेख में लिखते हैं कि मास्को में ३०) माहवार किराये पर साढ़े तीन बड़े कमरे, बिजली, गर्म-ठंडा पानी, रेडियो, फर्नीचर के साथ मिल जाते हैं और रूस की सरकार कोशिश करती है कि प्रत्येक नागरिक को वह मिले। वहाँ पैसा सड़कों को कोलतार की पक्की बनाकर व्यापार के आयात-निर्यात को पक्का बनाने पर खर्च नहीं होता, आदमियों को —श्रमिक मात्र को (क्योंकि जो किसी प्रकार का श्रम नहीं करता वह आदमी ही नहीं, ऐसा वहाँ माना जाता है) रहने लायक मकान मिले इस बात पर खर्च होता है ! हमारे यहाँ कि 'जनता की सरकार' कही जाने वाली वर्तमान शासन-व्यवस्था इस ओर क्या कदम उठा रही है ?

बँगलों के नाम भी अजीब-अजीब होते हैं। 'रैन बसेरा' खासे पक्के, पुख्ता, आलीशान बँगले को कहते हैं; 'स्वप्नलोक' ईंट-चूने कंकरीट के प्रत्यक्ष, कठोर, कठिन ढूह को कहते हैं; 'विश्राम में बहुत अशांति, हलचल दिखायी देती है; तो 'एकांत' ठीक सरे-बाजार चहल पहल से घिरा रहता है; 'लताकुंज' के आस-पास हरियाली का एक पत्ता भी नज़र नहीं आता और 'परमधाम' में कोई परमात्मा तो दूर उससे ज़रा निकटता भी नज़र नहीं आती। 'शांति-निकेतन' में ननद-भौजाइयों की तू तू मैं-मैं होती रहती है और 'सरस्वती-निवास' में लक्ष्मी के उपासक रहते हैं जिन्हें काला अक्षर भैंस बराबर हो। अँग्रेजी नामों का फैशन अधिक है कोई 'मैंशन' और 'विला', और 'शैतू' बनाकर उतने समय के लिए ही क्यों न हो, लंडन, पैरिस, वियना आदि में रहने का आनंद उठा लेते हैं। मेरा ऐसा विश्वास होता जा रहा है कि मकानों के भी, आदमियों की तरह, नाम यों ही बे समझे-बूझे रखे जाते हैं। मालिक-मकान का वैसा ही नाम बड़ा होता है (बदनाम भी होंगे तो क्या नाम न होगा ?) या फिर कहीं नाम नहीं होता—इसलिए मकान पर उसे बड़े-बड़े अक्षरों में लिखकर विज्ञापित किया जाता है। कई बार मकान-मालिक के नाम से नहीं, परंतु उसके आस-पास की किसी विशेष घटना, चमत्कारिक दृश्य या रचना के कारण मकान का नाम पड़ जाता है; उसे एक तरह का 'निक नेम' (उपनाम)कह लें। 'अरे, वो दर्जी वाला मकान', 'या पीपल वाला मकान' या 'दहीवड़े वाला मकान'—ऐसे नाम पड़ जाते हैं। और वे सुविधाजनक सिद्ध होते हैं। बजाय 'कुंकुम-भवन' या 'माचिसवाला चाल' के, झट से कह दिया 'इमली के पास वाला मकान ?' अशिक्षित, ग्राम-जन इसी प्रकार मकानों को पुकारते हैं।

वास्तु-शास्त्र के जानकार एक हमारे मित्र प्राचीन गृह-निर्माण-कला में क्या क्या सामान आवश्यक था, मकान किस दिशा में, किस मुहूर्त पर बनाये जाते थे; उनकी वास्तुशांति ब्राह्मणों को खिला देने से कैसे हो जाती थी—इसके संबंध में गूढ़, रहस्यमय, संशोधनपूर्ण व्याख्यान दे

सकते हैं; ग्रंथ लिख सकते हैं। जान पड़ता है, वे सब बंधन-नियम टूट गये हैं, जबकि भारतवर्ष की 'इंपिरियल एग्रिकल्चर रिसर्च सोसायटी' का दफ्तर एक बाथरूम में फैल गया; स्थानाभाव से विधान परिषद के सदस्य-गण एक-एक कमरे में पाँच-सात ठूँस दिये जाते हैं। 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद्' का दफ्तर तो स्थानाभाव से एक तंबू में ही था। ऐसे समय कैसा वास्तु विज्ञान और कैसी मंत्रशांति ? मैंने हाल में एक ऐसे मकान का हाल सुना है जो पूरा लोहे के पत्रों का बना हुआ है और उसे चाहे जब खींचकर खड़ा किया जा सकता है। उसी में ऐसी व्यवस्था है कि कुर्सी, बेंच, बिस्तरा, मेज, सब कुछ बन जाता है। वह 'पोर्टेबल' है यानी एक जगह से दूसरी जगह आसानी से ले जाया जा सकता है; एक छोटे से संदूक में वह समा जाता है। मकान क्या है अलादीन के चिराग से बनने वाली या मयासुर की कला का नमूना है। मुझे ऐसा मकान पसंद है। चाहे जहाँ खड़ा कर लिया, चाहे जब तोड़ दिया, फिर चलने लगे। यह पुराने खानाबदोशों और बिसाती-बंजारों के जीवन का परिवर्द्धित संस्करण है। 'टुक हिर्स-हया की सोच मियाँ जब लाद चलेगा बनजारा, क्या बाघ या, मुर्गा, बेल शुतुर···।' आजकल सिनेमा के गीतों में भी यह मकानवाद चल पड़ा है। 'घर ले लिया है मैंने तेरे दर के सामने' और 'बिस्तर बिछा दिया है तेरे घर के सामने' आदि आदि महान् काव्यों का रस कभी-कभी थियेटरके भोंपू आपकी अनिच्छा होते हुए भी आपके कानों में उंडेल देंगे। हमारे एक साहित्य-समालोचक मित्र ने आधुनिक हिंदी-साहित्य में साहित्यकारों की 'घर-लौट-प्रवृत्ति' का विशद वर्णन किया है।

लेख लम्बा हो जायेगा, इसलिए अपना 'मकान-पुराण' एक पहेली से समाप्त करता हूँ। एक विज्ञापन-हाल में पढ़ने को मिला : "चाहिए एक तिमंजिला मकान, जिसकी तीसरी मंज़िल खाली हो, बीच की मंजिल धक्-धक् करती हो और जिसकी नींव चलती-फिरती हो !"

आपने कहीं देखा वह मकान ? बूझिए !

●

बया और बन्दर की कहानी : एक रिसर्च स्कॉलर की जबानी

श्री लाल शुक्ल

एक जंगल में एक बया[1] रहता था। उसने एक बबूल की कँटीली डाल पर अपना घोंसला बना लिया था। इधर-उधर से तिनके बिटोरकर यह

---

१. 'बया एक चिड़िया का नाम है।' देखिये 'अवर बर्डस्' लेखक पी० स्मिथ, (पृ० १२३)। 'वह जंगल में रहती है और बस्ती में भी।' (वही, पृ० १२४)। चिड़िया वह है जिसके पैर भी हों और पंख भी' (वही, पृ० १२)। 'मनुष्य के पैर ही होते हैं, पंख नहीं।' (पृ० १३)। चिड़िया चिड़िया है, आदमी आदमी। केवल उल्लू एक ऐसा है जो दोनों कोटियों में होता है!' (वही, पृ० १४); साथ ही देखिए, श्री केशवचन्द्र वर्मा की 'एक ईसपनुमा कहानी।'

इस बाल-कथा में आख्येय बया के वन में निवास करने का एक रहस्य है। मानवीम जीवन से व्यतिरिक्त परिस्थितियों में बया को रखकर उसमें जिन गुणों का समावेश किया गया है, उससे यही साध्य है कि मानव-जाति में गुण क्षीण हो चुके हैं। यदि बया का निवास-स्थान वन न होकर कोई बाटिका होती तो संभवत: मानवीय क्षेत्र में प्रचलित झूठ, बेईमानी, छल, कपट, प्रपंच आदि स्वाभाविक मानवतत्त्व बया में समाविष्ट हो जाते। (देखिये, पक्षी-मनोविज्ञान, पृ० ३)।

घोंसला बनाया गया था। कँटीली डाल पर अपने शांत और सुखी घोंसले में बया अपनी पत्नी के साथ सानंद जीवनयापन करता था।[1]

बया के कुछ अंडे-बच्चे भी थे जो उसी घोंसले में शांति के साथ पड़े सोया करते थे।

इस प्रकार रहते-रहते माघ का महीना आया। पाला गिरने लगा,

१. इसी परिस्थिति को ध्यान में रखकर डॉ० एम० एस० गुप्त, एम० पी० ने 'पंचवटी' में लिखा है—

'जितने कष्ट कंटकों में हैं
जिनका जोवन सुमन खिला।
गौरव गंध उन्हें उतना ही
यत्र - तत्र - सर्वत्र मिला।'

बया के इस प्रकार के जीवन से उत्तरकालीन छायावादी कवियों ने (अर्थात् सन् १९३७ ई० से सन् १९४१ ई० के दीर्घ काल में एक नयी साहित्यिक परंपरा कायम करने वालों ने) एक ऐसे जीवन-दर्शन की कल्पना की थी जिसमें एकांत-कानन, शांत-निशिथिनी, निभृत-नीड़, प्रेम, प्रेयसी आदि का समावेश हुआ था और जो जीवन को मानवीय तृष्णाओं से परे ले जाकर एक शांत सुस्थिर वातावरण में बिताने की राह दिखाता था।

'यह बयामार्गी दर्शन फ़ारस से चला था। उमर खैयाम की रुबाइयों के भ्रष्ट अनुवाद के सहारे यह रोमांटिक रिवाइवल के कवियों की वाणी में पनपा। बाद में वह बंगाल के रास्ते हिंदी-साहित्य में आया। आलोचक इस दर्शन को अभारतीय मानते हैं किंतु यह ध्यान में रखने की बात है कि बया शुद्ध भारतीय चिड़िया है और बयामार्गी दर्शन शुद्ध भारतीय दर्शन है!' (यह बात लेखक स्वयं कह रहा है पर चूंकि वह चाहता है कि इसका उपयोग विद्वानों द्वारा दर्शन-शास्त्र के किसी इतिहास में हो अतः उसे उल्टे अर्धविरामों (इन्वर्टेड कॉमाज) में बाँध दिया गया है।)

पछुआ जोर से बहने लगी। शीत और तुषार के मारे हाथ-पैर ठिठुरने लगे। बबूल के पीले फूल झर गये। उसकी बीजदार फलियाँ कड़ी पड़ गयीं। उसकी शाखाएँ और भी काली हो गयीं। तने में चिपका हुआ गोंद सूख गया। उसमें दातून लायक कोमल लकड़ी का मिलना भी कठिन हो गया। उसके काँटे तक सड़ गये। परंतु बया आनंदपूर्वक, सपत्नीक, संतानसहित, अपने शांतिमय घोंसले में जीवन-यापन करता रहा।[1]

सहसा एक दिन बादल घिर आये। हवा और जोर से बही। बिजली चमकी। और ओलों की एक भयंकर बौछार के बाद पानी वेग के साथ गिरने लगा। चारों ओर अँधेरा-सा छा गया। जंगल की भयानकता बढ़ गयी।[2]

---

१ बयामार्गी-दर्शन में इस प्रकार के आचरण से बाह्य प्रकृति की हीनता सिद्ध की गयी है। बयामार्गी के लिए आवश्यक है कि वह अपने शांत निभृत-नीड़ में सानंद पड़ा रहे, उस नीड़ का आधार भले ही अनेक परिस्थितियों में विनाश की ओर जा रहा हो। बाह्य परिस्थितियों की विषमता बयामार्गी की निभृत-नीड़-प्रियता को आघात नहीं पहुँचा सकती। (देखिए, एस० लाल का प्रकृति और पलायनवाद', पृष्ठ ३०५।)

२. देखिए 'वर्षा-वर्णन', 'पद्मावती का विरह' (पद्मावत, एम० एम० जायसी द्वारा लिखित।) साथ ही देखिए, 'वर्षा-वर्णन' (टी० दास द्वारा लिखित 'रामचरितमानस' के किष्किधाकांड मे।)

बयामार्गी-दर्शन में वर्षा, करकापात आदि को बाह्य परिस्थितियों की विषमता का द्योतक माना गया है। क्योंकि वर्षा में बया अपने निभृत-नीड़ के लिए तिनके चुनकर नहीं ला सकता। मानवीय जीवन में वर्षा का क्या महत्त्व है, इस विषय में मतभेद है। परन्तु यह सब मानते हैं कि वर्षा का महत्त्व साधारण नहीं है। (देखिए, 'प्रकृति और पलायनवाद', पृ० ५१०, साथ ही देखिए 'ए सर्वे आन इंडियन ऐग्रिकल्चर', पृ० २०३।)

जब बिजली चमकी तो बया ने अपना सर घोंसले से बाहर निकाला।[1] उसने देखा कि घोंसले से कुछ ही दूर एक बंदर बैठा हुआ है।[2] बंदर बिना किसी सहारे के पेड़ की डाल पर चुपचाप घुटने में मुँह छिपाये बैठा था। पानी की बूंदें तेज हवा के कारण तिरछी होकर उसके शरीर पर पड़ रही थीं। वह सर्दी में काँप रहा था। बया को उस पर दया आ गयी।[3]

---

१. कभी-कभी बयामार्गी वाह्य परिस्थितियों का आनंद लेने के लिए अपनी स्थितियों से ऊपर सर उठता है। पर वह अपनी स्थितियों में इतना अभिभूत होता है कि उसे अन्य परिस्थितियाँ कौतुकजनक तथा विचित्र-सी जान पड़ती हैं। (देखिए,वही 'प्रकृति और पलायनवाद',पृ०५५०।)

'बया के घोंसले का दरवाजा नीचे से होता है। अतः बया जब सर वाहर करके कुछ देखना चाहेगा तो उसे सब कुछ उल्टा दिखायी पड़ेगा।'

(प्लूटार्क लिखित 'पशु-पक्षियों की विचित्र बातें', पृष्ठ २०३, छठा संस्करण।)

२. 'बंदर दो स्थितियों का प्रतीक है : एक तो मनुष्य की आदिम संस्कृति का, दूसरे प्रकृति में जो कुछ भी क्षिप्र, चंचल और हानिकारक है उस सबका।' 'रिसर्चेज इन ऐन्थ्रापॉलजी, एजुकेशन ब्यूरो मैगजीन, ऐनुअल नंबर, पृ० २०१)

बंदर में मानवीय संस्कृति के तथा प्रकृतिजन्य संस्कारों के सभी तत्त्व एक साथ मिलते हैं। शायद इसीलिए उसका सामना बया से कराया गया है जो बयामार्गी दर्शन का प्रवर्तक है।

३. 'बयामार्गी को अपने निभृत-नीड़ में बैठे-बैठे वाह्य परिस्थितियों से आक्रांत जंतु पर प्रायः दया आ जाती है। दया से उसके मन में समवेदना उत्पन्न होती है। समवेदना से समझ आती है। समझ से वाद निकलते हैं। वाद से विवाद निकलते हैं। विवाद से बयामार्गी के मन में निभृत-नीड़ के प्रति और भी आस्था बढ़ती है।'

उसने वंदर से कहा, 'ऐ भाई,[1] तुम क्यों इस घोर वर्षा में कष्ट उठा रहे हो ? तुमने शायद मेहनत करके अपना घर नहीं बनाया।[2] इसी कारण तुमको इतना कष्ट हो रहा है। देखो, हमने कितना सुंदर घोंसला बना लिया है।[3] इसी से हम इस वरसात और जाड़े में भी सुखी हैं। तुम भी अगर आलस त्यागकर अपना घर वना डालो तो तुम्हें इस भयंकर ऋतु का कष्ट न झेलना पड़े।[4] ऐ भाई, साहस और पुरुषार्थ से काम लो।'[5]

वंदर को न जाने क्या सूझा कि वह दाँत निकालकर घोंसले पर

'बयामार्गी राजनीति में आरामकुर्सीवादी, कला में पलायनवादी, साहित्य में साधनवादी, दर्शन में आस्थावादी, छाया में प्रकाशवादी और प्रकाश में छायावादी होता है।' (देखिए, सुभाषित-संचय)

१. इसी परंपरा से फ्रांस की राज्यक्रांति में मातृत्व का सिद्धांत स्वीकार हुआ जिसकी चरम परिणति नैपोलियन के शासनकाल में हुई। 'भाइयो और बहनो !' 'प्यारे भाइयो !' की चलताऊ चीजों से लेकर 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना का उद्वेग इसी संबोधन से निकला है।

२. 'बयामार्गी दूसरे के कष्ट को अपने कष्ट की माप से नापता है। चूँकि उसके पास एक निभृत-नीड़ है अतः वह दूसरे के कष्ट का अंदाज उसके बे-घरबार होने में ही कर सकता है।'

३. दूसरों से समवेदना प्रकट करने में यह आवश्यक है कि समवेदी समवेद्य के स्तर पर आये। किंतु बयामार्गी अपने कृतित्व का डंका पीटकर दूसरे अकृती के प्रति समवेदना प्रकट करता है।

४. दूसरे को उपदेश देना बयामार्गी का जन्मगत अधिकार है। वह स्वयं घोंसले में रहते-रहते दूसरों को घोंसलावादी बनाना ही अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

५. बयामार्गी साहस और पुरुषार्थ में इसीलिए इतनी आस्था रखता है कि उसे साहस और पुरुषार्थ दिखाने का अवसर कभी नहीं मिलता। स्वभावजन्य संचय-वृत्ति को ही वह साहस और पुरुषार्थ मानता है।

झपटा ।[1] उसने बया के अंडे तोड़ डाले । उसका घोंसला उजाड़ दिया ।[2]

बया घबड़ाहट में कुछ और न करके चीखने लगा । उसका घोसला उजड़ गया और वह अपने पत्नी के साथ दुखी होकर उजड़े हुए घोंसले पर शोक प्रकट करता रहा ।[3]

सच है, नीच को कभी अच्छी सलाह न देनी चाहिए ।[4]

●

---

१. एक अनावश्यक और मौखिक सहानुभूति के मुकावले कष्ट में पड़े हुए दुःखी और विकृत मन का पुरुषार्थ मात्र है ।

२. 'जब दुःखी मन और कुछ नहीं कर पाता तो उसे असहायता की स्थिति से उन्माद उत्पन्न होता है । उन्माद में कुछ भी प्रोत्साहन मिलने पर वह अप्रिय वस्तुओं का विनाश प्रारंभ कर देता हैं ।' (देखिए, 'सुभाषित-संचय')

३. बंदर, जैसा कहा गया है, बाह्य परिस्थितियों का प्रतीक है । उसके द्वारा अपने निभृत-नीड़ के नष्ट होने पर बयामार्गी शोक प्रकट करता है । उर्दू में इस शोक-प्रकाश पर अनेक कविताएँ लिखी हैं । देखिए, 'जिगर' का 'इसी चमन में हमारा भी एक जमाना था । यहीं कहीं कोई छोटा-सा आशियाना था' । ऐसी कविताएँ सदा लिखी गयी हैं और लिखी जायेंगी ।

४. यह कहानी तभी लाभप्रद हो सकती है जब कौन नीच है और कौन नीच नहीं है, इस भेद को समझ लिया जाय ।

देखिए, 'महाभारत' 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' ।

अर्थात् जब तक कुछ पूछा न जाय तब तक कुछ न बोले ।

बयामार्गी ने इस नेक सलाह का पालन नहीं किया । इसीसे वह दुःख को प्राप्त हुआ । बयामार्गी ऐसे ही कारणों से दुःख को प्राप्त होता है ।

ग्रन्थविषयक टिप्पणी :—

इस लेख में दिये गये जो ग्रंथ आपको प्राप्त न हों उन्हें आप अप्राप्य समझें ।

आँगन में बैंगन

हरिशंकर परसाई

मेरे दोस्त के आँगन में इस साल बैंगन फल आये हैं। पिछले कई सालों से सपाट पड़े आँगन में जब बैंगन फल उठा तो ऐसी खुशी हुई जैसे बाँझ को ढलती उम्र में बच्चा हो गया हो। सारे परिवार की चेतना पर इन दिनों बैंगन सवार है। बच्चों को कहीं दूर पर बकरी भी दीख जाती है, तो वे समझते हैं कि वह हमारे बैंगन के पौधों को खाने के बारे में गंभीरता से विचार कर रही है। वे चिल्लाने लगते हैं। पिछले कुछ दिनों से परिवार में बैंगन की ही बात होती है। जब भी जाता हूँ, परिवार की स्त्रियाँ कहती हैं—खाना खा लीजिए। घर के बैंगन बने हैं। जब वे 'भरे भटे' का अनुप्रास साधती हैं, तब उन्हें काव्यरचना का आनंद आ जाता है। मेरा मित्र भी बैठक से चिल्लाता है–'अरे भाई' बैंगन बने हैं कि नहीं ?' मुझे लगता है, आगे ये मुझसे 'चाय पी लीजिए' के बदले कहेंगी—एक बैंगन खा लीजिए। घर के हैं।' और तश्तरी में बैंगन काटकर सामने रख देंगी। तब मैं क्या करूंगा ? शायद खा जाऊं; क्योंकि बैंगन चाहे जैसा लगे, भावना स्वादिष्ट होगी और मैं भावना में लपेटकर बैंगन की फांक निगल जाऊंगा।

ये बैंगन घर के हैं और घर की चीज का गर्व विशेष होता है। अगर वह चीज घर में ही बनायी भी गयी हो, तो निर्माण का गर्व उसमें और जुड़ जाता है। मैंने देखा है, इस घर के बैंगन का गर्व स्त्रियों को ज्यादा हैं। घर और आँगन में जो है वह स्त्री के गर्व के क्षेत्र में आता है। इधर बोलचाल में पत्नी को 'मकान' कहा जाता है। उस दिन मेरा एक दोस्त

दूसरे दोस्त को सपत्नीक भोजन के लिए निमंत्रित कर रहा था। उसने पूछा—'हाँ' यह तो बताइए आपका 'मकान' गोश्त खाता है या नहीं ? पत्नी अगर 'मकान' कही जाती है, तो पति को 'चौराहा' कहलाना चाहिए। दोनों की पत्नियाँ जब मिलें तो एक का 'मकान' दूसरे के 'मकान' से पूछ सकता है—'बहन, तुम्हारा 'चौराहा' शराब पीता है या नहीं ?

लोग पान से लेकर बीवी तक घर की रखते हैं। इसमें बड़ा गर्व है और बड़ी सुविधा है। जी चाहा तब पान लगाकर खा लिया और जी हुआ तब पत्नी से लड़कर जीवन के कुछ क्षण सार्थक के लिये। कुछ लोग मूर्ख भी घर के रखते हैं। और मेरे एक परिचित तो जुआड़ी भी घर के रखते हैं। दीवाली पर अपने बेटों के साथ बैठकर जुआ खेल लेते हैं। कहते थे—"भगवान की दया से अपने चार बेटे हैं, सो घर में ही जुआ खेल लेते हैं।'

घर की चीज आपत्ति से भी परे होती है। आदमी स्वर्ग से इसलिए निकाला गया कि उसने दूसरे के बगीचे का सेब खा लिया था। माना कि वह बगीचा ईश्वर का था, पर फिर भी पराया था। अगर वह सेब उसके अपने बगीचे का होता, तो वह एतराज करने वाले से वह कह देता—'हाँ, हाँ, खाया तो अपने बगीचे का ही खाया। तुम्हारा क्या खा लिया ?' विश्वामित्र का 'वैसा' मामला अगर घर की औरत से होता, तो तपस्या भंग न होती। वे कह देते—'हाँ जी, हुआ। अगर वह हमारी औरत है। तुम पूछने वाले कौन होते हो ?' अगर कोई अपनी स्त्री को पीट रहा हो और पड़ोसी उसे रोके, तो वह कैसे विश्वास से कह देता है—'वह हमारी औरत है। हम चाहें उसे पीटें, चाहें मार डालें। तुम्हें बीच में बोलने का क्या हक है।' ठीक कहता है वह। जब वह कद्दू काटता है, तब कोई एतराज नहीं करता, तो औरत को पीटने पर क्यों एतराज करते हैं ? जैसा कद्दू वैसी औरत। दोनों उसके घर के हैं। घर की चीज में यही निश्चिन्तता है। उसमें मजा भी विशेष है। बैंगन चाहे बाजार के बैंगन से घटियाँ हों, पर लगते अच्छे स्वादिष्ट हैं। घर के हैं न। मैंने लोगों को भयंकर कर्कशा को भी प्यार करते देखा है, क्योंकि वह घर की औरत है।

वैसे मुझे यह आशा नहीं थी कि यह मेरा दोस्त कभी आँगन में बैंगन का पौधा लगायेगा। कई सालों से आँगन सूना था। मगर मैं सोचता था कि चाहे देर से खिलें, पर इस आँगन में गुलाब, चम्पा और चमेली के फूल ही खिलेंगे। बैंगन और भिंडी जैसे भोंड़े पौधे को वह अपने आँगन में जमने नहीं देगा। पर इस साल जो नहीं होना था, वही हो गया। बैंगन लग गया। और वह रुची से खाया भी जाने लगा। मेरे विश्वास को यह दोस्त कैसे धोखा दे गया। उसने शायद घबरा कर बैंगन लगा लिया। बहुत लोगों के साथ ऐसा हो जाता है। गुलाब लगने के इंतजार में साल गुजरते रहते हैं और फिर घबराकर आँगन में बैंगन या भिंडी लगा लेते हैं। मेरे एक परिचित ने इसी तरह अभी एक शादी की है—गुलाब के इंतजार से ऊबकर बैंगन लगा लिया है।

लेकिन इस मित्र की सौंदर्य-चेतना पर मुझे भरोसा था। न जाने कैसे उसके पेट से सौंदर्य-चेतना प्रकट हो गयी। आगे हो सकता है, वह बेकरी की स्थापत्यकला का श्रेष्ठ नमूना मानने लगे और तंदुरी रोटी की भट्टी में उसे अजंता के गुफा-चित्र नजर आयें।

इसे मैं बर्दाश्त कर लेता। बर्दाश्त तब नहीं हुआ, जब परिवार की एक तरुणी ने भी कहा—'अच्छा तो है। बैंगन खाये भी जा सकते हैं'। मैंने सोचा, हो गया सर्वनाश। सौंदर्य, कोमलता और भावना का दिवाला पिट गया। सुन्दरी गुलाब से ज्यादा बैंगन को पसंद करने लगी। मैंने कहा—'देवी, तू क्या उसी फूल को सुंदर मानती है जिसमें से आगे चलकर आधा किलो सब्जी निकल आए। तेरी जाति कदंब के नीचे खड़ी होने वाली है, पर तू शायद हाथ में बांस लेकर कटहल के नीचे खड़ी होगी। पुष्पलता और कद्दू की लता में क्या तू कोई फर्क नहीं समझती ? तू क्या वंशी से चूल्हा फूंकेगी ? और क्या वीणा के भीतर नमक-मिर्च रखेगी ?

तभी मुझे याद आया कि अपने आँगन में तो कुछ भी नहीं है। दूसरे पर क्या हँसूं ? एक बार मैंने गेंदे का पौधा लगाया था। यह बड़ा गरीब, सर्वहारा फूल होता है। कहीं भी जड़ें जमा लेता है। मैंने कहा—'हुजूर

अगर आप जम जाएँ और खिल उठें, तो मैं गुलाब लगाने की सोचूँ।' मगर वह गेंदा भी मुरझाकर सूख गया। उसका डंठल बहुत दिनों तक जमीन में गड़ा हुआ मुझे चिढ़ाता रहा कि गेंदा तो आँगन में निभ नहीं सका, गुलाब रोपने की महत्त्वाकांक्षा रखते हो। और मैं उसे जवाब देता—'अभागे, मुझे ऐसा गेंदा नहीं चाहिए जो गुलाब का नाम लेने से ही मुरझा जाय। गुलाब को उखाड़कर वहाँ जम जाने की जिसमें ताकत हो, ऐसा गेंदा मैं अपने आँगन में लगने दूँगा। मेरे घर के सामने के बंगले में घनी मेंहदी की दीवार-सी उठी है। इसकी टहनी कहीं भी जड़ जमा लेती है। इसे ढोर भी नहीं खाते। यह सिर्फ सुंदरियों की हथेली की शोभा बढ़ाती है और इसीलिए इस पशु तक के लिए बेकार पौधे की रूमानी प्रतिष्ठा लोक-गीतों से लेकर नयी कविता तक में है। नेल पालिश के कारखानों ने मेंदही की इज्जत अलबत्ता कुछ कम कर दी है। तो मैंने मेंहदी की कुछ कलमें आँगन में गाड़ दीं। दो-तीन दिन बाद आवारा ढोरों ने उन्हें रौंद डाला। मैं दुखी था। तभी अखबार में पढ़ा कि किसी 'हाइड्रो इलेक्ट्रिक प्लांट' का पैसा इंजीनियर और ठेकेदार खा गये और उसमें ऐसी घटिया सामग्री लगायी कि प्लांट फूट गया और करोड़ों बरबाद हो गये। जो हाल मेरे मेंहदी की प्लांट का हुआ, वही सरकार के उस बिजली के 'प्लांट' का हुआ—दोनों को उजाड़ू ढोरों ने रौंद डाला। मैंने इस एक ही अनुभव से सीख लिया कि 'प्लांट' रोपना हो तो उसकी रखवाली का इंतजाम पहले करना। भारत सरकार से पूछता हूँ कि मेरी सरकार, आप कब सीखेंगी? मैं तो अब 'प्लांट' लगाऊँगा, तो पहले रखवाली के लिए कुत्ते पालूँगा। सरकार की मुश्किल यह है कि उसके कुत्ते वफादार नहीं हैं। उनमें से कुछ आवारा ढोरों पर लपकने के बदले, उनके आसपास दुम हिलाने लगते हैं।

फिर भी भारत सरकार के प्लांट तो जम ही रहे हैं और आगे जम जायेंगे। उसके आँगन की जमीन अच्छी है और 'प्लांट' सींचने को ४५ करोड़ लोग तैयार हैं। वे प्लांट भी उन्हीं के हैं। सरकार तो सिर्फ मालिन है।

मेरे इस आँगन का अभी कुछ निश्चित नहीं है। बगल के मकान के अहाते से गुलाब की एक टहनी, जिस पर बड़ा-सा फूल खिलता है, हवा के झोके से दीवार पर से गर्दन निकालकर इधर झाँकती है। मैं देखता रहता हूँ। कहता हूँ—'तू ताक चाहे झाँक। मैं इस आँगन में अब पौधा नहीं रोपूँगा। यह अभागा है। इसमें बरसाती घास के सिवा कुछ नहीं उगेगा। सभी आँगन फूल खिलने लायक नहीं होते'। 'फूलों का क्या ठिकाना।' वे गँवारों के आँगन में भी खिल जाते हैं। एक आदमी को जानता हूँ, जिसे फूल सूँघने की तमीज नहीं है। पर उसके बगीचे में तरह-तरह के फूल खिले हैं। फूल भी कभी बड़ी बेशर्मी लाद लेते हैं और अच्छे खाद पर बिक जाते हैं।

मेरा एक मित्र कहता है कि 'तुम्हारे आँगन में कोमल फूल नहीं लग सकते। फूलों के पौधे चाहे किसी घटिया तुकबंद के आँगन में जम जायँ, पर तुम्हारे आँगन में नहीं जम सकते। वे कोमल होते हैं, तुम्हारे व्यंग्य की लपट से जल जायेंगे। तुम तो अपने आँगन में बबूल, भटकटैया और धतूरा लगाओ। ये तुम्हारे बावजूद पनप जायेंगे। फिर देखना कौन किसे चुभता है—तुम बबूल को या बबूल तुम्हें? कौन किसे बेहोश करता है—धतूरा तुम्हें या तुम धतूरे को?

●

मेघदूत की पुस्तक-समीक्षा

शरद जोशी

वीर विक्रमादित्य के दरवार की शोभा बने नवरत्नों में क्रमांक तीन के रत्न अर्थात् कवि-कुल-गुरु कालिदास की नवरचित पोथी 'मेघदूत' जब संपूर्ण हुई तब राजाज्ञा से इक्कीस संस्कृतविद् ब्राह्मण बिठाय के ताड़-पत्रों पर उसकी शत-शत प्रतियाँ करने के आदेश दिये गये जो यथासमय पूरे हुए। सुंदर शब्दों में ज्यों-का-त्यों उतार देने की कला में प्रवीण उन ब्राह्मण ठेकेदारों द्वारा लिखित पोथियाँ जो प्राप्त हुईं, उनमें से कतिपय श्रेष्ठ प्रतियाँ स्वयं कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने करों से छाँटीं तथा तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं को सप्रेम सादर समीक्षार्थ भिजवाईं। वायु से वार्तालाप करने वाले अश्वों पर बैठकर अश्व-सवार देश के विभिन्न भागों में दौड़ पड़े और पत्र-पत्रिकाओं के संपादक प्रवरों को दो-दो प्रतियाँ हस्तगत करवा लौट आये। कालिदासजी बैठ 'मेघदूत' पर पुस्तक-समीक्षा की प्रतीक्षा करने लगे। वे जानते थे कि जो आनंद प्रतीक्षा में है सो प्रकाशन में नहीं, अतः समय को व्यर्थ न गँवा वे अपने आगामी काव्यों के लिए उपमाएँ भी एकत्र करते रहे, जो उनका प्रिय कार्य था।

कवि कालिदास की काव्य-वाटिका के अद्वितीय कुसुम 'मेघदूत' के विषय में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने जो मत व्यक्त किये उन्हें हम यहाँ ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करते हैं तथा साथ ही पत्र-पत्रिकाओं का परिचय भी विस्तार से दिये देते हैं, जिससे पाठकों को सुविधा रहे।

अवंतिका अर्थात् उज्जयिनी नगरी से ही प्रति प्रातः प्रकाशित होने वाले समाचारपत्र 'विक्रम-कीर्ति-चंद्रिका' ने 'मेघदूत' पोथी का विस्तार से

विवेचन किया एवं प्रशंसा के सेतु बाँध दिये । 'विक्रम-कीर्ति-चंद्रिका' दैनिक को राज्य शासन द्वारा नियमित विज्ञापन प्राप्त होता था एवं समय-समय पर दान आदि भी प्राप्त होता था । पत्र में पुस्तक-समीक्षा का एक नियमित स्तंभ चलता था । संपादक ने समीक्षक को आदेश दिये कि पोथी की विस्तृत प्रशंसा की जाये । समीक्षक स्वामी के आदेश बजा लाया ।

"वीरों में वीर विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक, कवियों की पाँत में अग्रस्थान में शोभित राज्य के सूचना एवं कीर्ति-प्रकाशन-सचालक कविवर कालिदासजी द्वारा रचित 'मेघदूत' काव्य का विगत दिवसों में राज्य द्वारा प्रकाशित पोथियों में निश्चय ही अनूठा रत्न है, जिसका रस हृदय को उसी प्रकार तृप्त करता है जैसे ग्रीष्म ऋतु में ईख का रस । वीर विक्रमादित्य के राज्य-क्षेत्र में शोभित विभिन्न नगरों की मनोहारी शोभा का वर्णन करने की चेष्टाएँ अतीत में भा नाना प्रकार से राज्य-सूचना-विभाग द्वारा संपन्न हुई हैं, पर इस लक्ष्य से जैसा रूपक कवि कालिदास ने बाँधा वैसा तो अभी तक दृष्टि में नहीं आया । क्यों न हो ? जब कवि-कुल-गुरु कालिदास-सी प्रतिभाएँ शासकीय सेवा स्वीकारकर राज्य की शोभा बढ़ा रही हैं, तो 'मेघदूत' ग्रंथ प्रसूत होंगे ही ।

'मेघदूत' का बाह्य रूप एक काव्य का है । अलकापुरी से निष्कासित एक यक्ष ने अपनी प्रियतमा से संदेश पठवाने हेतु मेघ को माध्यम चुना और दूत के रूप में जब मेघ चला तो मार्ग में हमारे राज्य के नगर आये जिनकी शोभाश्री का वर्णन काव्य में भरा पड़ा है । अर्थात् दूत काव्य के मिस कालिदासजी ने महाराजाधिराज विक्रम के राज्य में सुख से जीवनयापन करने वाले नागरिकों तथा विकासमान नगरों की शोभा वर्णित की है । इस प्रकार 'मेघदूत' काव्य तो है ही, पर लगे हाथ एक प्रचार-पुस्तिका एवं यात्रियों हेतु मार्गदर्शिका भी बन गयी है । कहिए स्वर्ण में सुहागा । पठन से राज्य के नगर, ग्राम, वन, पर्वत, सरिता, कृषि, उद्योग एवं धार्मिक स्थलों का समस्त अनिवार्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है । कालिदासजी ने उपमाओं वाली शैली उपयोग करने के साथ यहाँ-वहाँ उपदेश भी जड़ दिये

हैं तथा इस प्रकार ग्रंथ का साहित्यिक स्तर उठाने का प्रयास किया गया है, जिसमें वे पर्याप्त सीमा तक सफल भी हुए हैं। कतिपय उपमाएँ तो अत्यंत ही मौलिक बन पड़ी हैं। हमारे राज्य का अधिकांश क्षेत्र कृषिप्रधान है, अतः मेघ को माध्यम चुनना उचित एवं राज्य की जनता की भावना के अनुकूल है।

उपरोक्त काव्य की रचना कर हमारे राज्य के सूचना-संचालक कविवर कालिदासजी ने बहुत काल से अनुभव किये जा रहे एक अभाव को दूर कर दिया है कि राज्य में यात्रियों के लिए उपयुक्त मार्गदर्शिका नहीं है। विगत दिवसों में महाराज वीर विक्रमादित्य द्वारा पर्यटन-विकास हेतु अनेक कार्य राज्य में हुए हैं, जिनमें विदिशा-उज्जयिनी मार्ग का सुधार प्रमुख है। राजधानी नगर उज्जयिनी की शोभा बढ़ायी गयी है, क्षिप्रा पर नये घाट बने हैं। निश्चय ही इससे पर्यटक आकर्षित होंगे एवं यह पोथी यात्रियों को उपयोगी होगी। अश्व-यात्री भी सुविधा से पढ़ सकें एवं यात्रा में साथ रखी जा सके, इस आशय से पोथी छोटी बनायी गयी है, मूल्य भी चार दमड़ी रखा गया जो अधिक नहीं। प्रकाशन के लिए सूचना-विभाग बधाई का पात्र है। इससे निश्चित ही अपरोक्ष रूप से महाराजा की कीर्ति दिग्-दिगंत तक फैलेगी। आशा है, राज्य के सभी पंडित इसका अध्ययन एवं प्रशंसा कर अपनी स्वामिभक्ति का परिचय देंगे।"

अवंतिका से ही उस काल का 'काव्य चंद्रोदय' नामक एक मासिक प्रति पूर्णिमा को प्रकाशित होता था। इसके संपादक स्वयं कवि थे, जिनके संकलन की भूमिका कालिदासजी ने लिखकर गौरव में चार चन्द्र लगाये थे अवंतिका में कालिदास गुट के सभी कवि, जो राज्य द्वारा आयोजित कवि-सम्मेलनों में भाग लेते थे, 'काव्य-चंद्रोदय' में लेखनी चालित करते थे। पत्र में 'मेघदूत' की समीक्षा में लिखा अंश यों है :

"कालिदासजी की सरस्वती-सेवा से तो आबाल-वृद्ध सभी परिचित हैं। राज-संमान प्राप्त होने के उपरांत से आपके परिश्रम में वृद्धि ही हुई है, जिसका सुपरिणाम है 'मेघदूत' काव्य। यह रचना मात्र एक मार्गदर्शिका

न होकर एक साहित्यिक ग्रथ भी है । बल्कि कहा जाये कि काव्य-पथ के यात्रियों के लिए प्रकाश-स्तंभ । काव्य की कथावस्तु अत्यंत सरल, रोचक एवं हृदयस्पर्शी है । भाषा सरल, मुहावरेदार एवं नाना उपमाओं से सज्जित । पढ़ते समय विभिन्न स्थलों के दृश्य आँखों के संमुख उत्तिष्ठ हो जाते हैं । कवि ने भावो का संघर्ष भी खूब दर्शाया है ।

"हम यह बल देकर व्यक्त करेंगे कि 'मेघदूत' को मात्र काव्य समझना भूल होगी । वे कालिदासजी जैसे विद्वान्, अनुभवी एवं विचारशील व्यक्ति के उद्‌गार ही हैं, स्फटिक-से उज्ज्वल । शैली मनोहर है, जिसमें कवि की आनंदमयी आत्मा ही एक-एक श्लोक में प्रतिबिंबित हुई है । ऐसे शताधिक श्लोक हैं । पाठन करते समय एक-एक श्लोक पर पाठक प्रशंसा में 'वाह-वाह, कि वार्ता हैं' आदि वाक्य बोल उठता है । गंभीरता के साथ सरसता, प्रसाद के साथ विनोद कालिदास की विशेषता है । पुस्तक संक्षिप्त एवं उपयोगी है, जो पुस्तकालयों की शोभा बढ़ायेगी । हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी कालिदासजी ऐसे छोटे-छोटे ग्रंथ रच माँ संस्कृत की झोली भरेंगे ।"

उसी काल में विदिशा नामक नगरी से 'समाचार-प्रभाकर' नामो एक पत्र दैनिक प्रस्फुटित होता था । साहित्य-पृष्ठ का संपादन एक स्थानीय कवि करते थे । वे कालिदास की सफलता से हृदय ही हृदय में दग्ध थे । 'मेघदूत' पर आपने यों कृपा की ।

"काव्य में उपमावाद की स्थापना में कवि कालिदास का विशेष योग है । प्रस्तुत पुस्तक 'मेघदूत' भी इसी वाद की पोषक है । जहाँ देखो वहाँ उपमाएं । लगता है, कवि की संपूर्ण प्रतिभा उपमाएँ खोजने में ही व्यय होगी । कतिपय सुंदर भी बन पड़ी हैं । कतिपय ऐसी कठिन कि रहस्य समझने हेतु बुद्धि रगड़नी पड़े । विवाद का विषय हो सकता है कि क्या उपमाओं का बाहुल्य ही साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी है ? आश्चर्य नहीं 'मेघदूत' काव्य के साथ यह विवाद बल पकड़े । सत्य तो यह है कि हमें शाकुन्तल जैसे नाटक के रचयिता से ऐसी पुस्तक पाकर निराशा ही हुई ।

भविष्य में वे संस्कृत-साहित्य को क्या देंगे, इस विषय में भविष्यवाणी कोई ज्योतिषी ही कर सकता है; पर वर्तमान में लगता है कवि अब चुक सा गया है, बार-बार वही शैली पिट रही है। कालिदास की प्रतिभा, लगता है, अपना श्रेष्ठ दे चुकी।

"यों तो आजकल कथा एवं काव्य में विभिन्न नगरों एवं क्षेत्रों के नाम देने की प्रवृत्ति-सी चल पड़ी है। शायद कृतिकार का लोभ होता है कि उसकी पुस्तक अन्य नगरों में क्रय की जायेगी एवं आदर पायेगी, अतएव इसी लक्ष्य से वे शोभा-वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर करते हैं। परंतु इस दृष्टि से भी 'मेघदूत' काव्य ने हमें निराश किया है। विदिशावासी होने के कारण हम नम्रता से कहना चाहेंगे कि यद्यपि कालिदासजी इस नगरी में आ चुके हैं, पर यहाँ के जीवन एवं नगरी के सौंदर्य का परिचय उन्हें नहीं है। विदिशा नगरी के सौंदर्य का जो वर्णन आपने किया है, उससे अनेक गुणित अधिक सौंदर्य बिखरा है इस नगरी में। कालिदासजी ने विदिशा की तुलना में उज्जयिनी को अधिक सुंदर बताया। ग्रंथ में प्रमुख पात्र यक्ष तो इसी प्रकार मेघ-रूपी दूत से कहता लगता है। महाराजाधिराज और विक्रमा-दित्य ने राज्य में न्याय की स्थापना की। उनकी दृष्टि में जैसी प्रिय अवंतिका है, वैसी ही विदिशा—सब समान हैं, परंतु उसी न्यायी दरबार के कवि कालिदास अपने काव्य में न्याय स्थापित नहीं कर पाये। क्या ही उपयुक्त होता, कवि महोदय 'मेघदूत' लिखने के पूर्व इन स्थानों की यात्रा कर लेते और दूसरों से सुनी वार्ताओं पर अपना वर्णन आधारित नहीं करते।

"कवि कालिदासजी संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता हैं। यह अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि उनकी रचना में भाषा और व्याकरण-संबंधी त्रुटियाँ न हों। पर हमें कहते हुए संकोच है कि इस ग्रंथ में भयंकर भूलें रह गयी हैं, जिन पर पंडितों का ध्यान अवश्य जायेगा। आशा है, इन दोषों का मार्जन हो जायेगा। अन्त में हम इतना ही कहेंगे कि अभी संस्कृत-साहित्य को कालिदासजी से अनेक आशाएँ हैं तथा जिस संमाननीय पद पर वे विराजित हैं, उसकी अपेक्षाएँ उन्हें पूर्ण करनी हैं।"

तक्षशिला नामक नगरी से 'पद्य-प्रतिभा' नामक मासिक प्रकाशित होता था। तक्षशिला के एक शिक्षक महोदय इसमें पुस्तक-समीक्षा किया करते थे। 'मेघदूत' छोटा-सा काव्य था, अतः अधिक पंक्तियाँ व्यय करना उन्हें उचित नहीं लगा।

"उज्जयिनी-निवासी कालिदास नामी कवि-रचित काव्य 'मेघदूत' की प्रति देखने को मिली है। छोटी-सी पुस्तक है। काव्य मे एक विरही यक्ष ने मेघ को अपनी विरह की पीड़ा सुनायी है और उसे दूत बना निवेदन किया है कि अलकापुरी में प्रियतमा को संदेश दे। यात्रा-हेतु मेघ को विस्तारपूर्वक निर्देश भी दिया है। हमें तो संपूर्ण रचना हास्यास्पद ही लगी। विरही द्वारा पक्षी, वायु आदि से संदेश भिजवाने की बात तो सुनी है एवं कविता की परंपरा के अनुसार है, पर मेघ से संदेश भिजवाने की सूझ विचित्र है। इसके लिए पृथ्वी पर खड़े विरही को बड़े ऊँचे स्वर में चिल्लाना पड़ता होगा। विरह में पीड़ित व्यक्ति की शारीरिक अवस्था देखते हुए यह संभव नहीं प्रतीत होता। फिर विरही महोदय, जो जाति से यक्ष हैं, (आश्चर्य है कवि को कोई अन्य विरही न मिला) अपने संदेश में विरहिणी को कोई खास बात भी नहीं कहते। वही घिसी-पिटी प्रेम की बातें, जो बीसियों बार कही जा चुकी हैं। यों काव्य ठीक है तथा कहीं-कहीं वास्तव में सुंदर बन पड़ा है। उपमाओं का बाहुल्य खटकता है। मूल्य अधिक है चार दमड़ी।"

कलिंग देश से एक साप्ताहिक प्रकाशित होता था—'कलिंग-गौरव' जिसका दक्षिण के बुद्धिवादियों में बड़ा आदर था। कालिदासजी ने समीक्षार्थ 'मेघदूत' की प्रति उसे भी भेजी। पत्र ने तुरत उसे सामयिक राजनीति से जोड़ा।

"उत्तरवासी शासक एवं विद्वान् विगत अनेक वर्षों से दक्षिण पर संस्कृत भाषा थोपने की चेष्टा कर रहे हैं तथा संस्कृत भाषा की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए कवियों, लेखकों एवं व्याकरणाचार्यों को धन देकर नित नये ग्रंथ भी रचवा रहे हैं। एक ओर तो दक्षिण क्षेत्र से यह आशा की

जाती है कि हम अपनी प्रिय मातृभाषा छोड़ संस्कृत-जैसी क्लिष्ट एवं कटु भाषा स्वीकार करें तथा इधर संस्कृत पुस्तकों में दक्षिण-भारत की लगातार उपेक्षा की जा रही है। अपने कथन के प्रमाणस्वरूप हम 'मेघदूत' नामक एक सद्यःप्रकाशित काव्य प्रस्तुत करेंगे, जिसे उत्तर क्षेत्र के राजा विक्रमादित्य ने अपने दरबार के किन्हीं कवि कालिदास से रचवाया है। कवि महोदय ने यह बताने की चेष्टा की है कि अषाढ़ के मेघ उनके ही राज्य से उठकर राजधानी उज्जयिनी की ओर बढ़ते हैं, काव्य का नायक निर्वासित यक्ष उन मेघों से संदेश भिजवाता है। क्या कवि महोदय नहीं जानते कि उत्तर-भारत को सींचने वाले बादल दक्षिण के समुद्र से उठते हैं? क्या वे अपने यक्ष को निर्वासित कर दक्षिण के समुद्र-तट पर नहीं बिठा सकते थे, जहाँ से वास्तव में मेघ उठते हैं और संदेश भेजने में सुविधा होती? पर यह प्रश्न उत्तर के इन संस्कृत कवियों से करना व्यर्थ है। वह तो अपने ही क्षेत्र को सोचेगा, वहीं की शोभा का वर्णन करेगा। जिस भाषा में ऐसे संकीर्ण कवि हों जो 'मेघदूत'-सा काव्य रचें, वह भाषा किसी दक्षिणवासी को कैसे स्वीकार होगी?"

इसके अतिरिक्त अन्य पत्रों ने 'मेघदूत' का उल्लेख सिर्फ 'प्राप्तिस्वीकार' के अंतर्गत ही किया। उत्तर भारत के हस्तिनापुर क्षेत्र से निकलने वाले प्रसिद्ध पत्र 'संजय-संदेश' का उस दिनांक को प्राप्त पुस्तकों में 'मेघदूत' का उल्लेख था।

'नीबू गुण विधान'; लेखक : कविराज वैद्याचार्य मार्तंड भास्कर शास्त्री; प्रकाशक : मार्तंड-भास्कर-प्रकाशन, अयोध्या; मूल्य दस दमड़ी।

'मेघदूत-काव्य'; रचयिता : कालिदास; प्रकाशक : विक्रम-कीर्ति-प्रकाशन, उज्जयिनी; मूल्य : चार दमड़ी।

'सुहाग-रात्रि-प्रदीपिका'; लेखक : वंशीधर रसिकेश; प्रकाशक : रसिकेशपुस्तक-माला, मथुरा।

अपने काव्य 'मेघदूत' की उपरोक्त समीक्षाएं पढ़कर कवि कालिदास ने आत्महत्या के उद्देश्य से उज्जयिनी के समीप बहने वाली क्षिप्रा नदी में

छलांग लगा दी, परंतु साहित्य के सौभाग्य से क्षिप्रा उक्त काल में भी आज की तरह अधिक गहरी नहीं थी। कविवर तैरते हुए किनारे आ लगे। बाद में कालिदास ने और भी ग्रंथ रचे और समीक्षार्थ भेज साहित्य के नियमों का निर्विकार भाव से पालन किया।

बाघ से भिड़न्त

श्रीराम शर्मा

सायंकाल के चार बजे थे। स्कूल से लौटकर घर में गरम-गरम चाय पी रहा था। छोटी लड़की अपनी भोली और शुद्ध दृष्टि से पास ही बैठी, खिलौने से खेल रही थी, और अपनी तोतली बोली में कह रही थी—"बावूजी! इछे भी चाय दे दो, थंद लग रही है।" मैं कुछ कहना ही चाहता था कि किसी ने बाहर से पुकारा—"मास्टर साहब!! जरा बाहर आइये। एक आदमी आया है। बाघ की खबर लाया है।" बाघ का नाम सुनकर मैं उछल पड़ा। चाय का प्याला वहीं-का-वहीं रखकर झट से बाहर आया।

देखा तो, बाहर पश्मीने की चादर ओढ़े मेरे शिकारी मित्र पं॰ लक्ष्मीदत्त थपलियाल खड़े हैं और उनकी बगल में एक हाड़ का कंकाल-बूढ़ा खड़ा है। उसकी मुखाकृति उसकी अंतर्वेदना की द्योतक थी। कष्ट, विपत्ति और समय के उलट-फेर ने उसकी गति, तूफ़ान में फँसे जहाज की-सी कर दी थी।

चिंता ने कौतुहल का स्थान लिया और बातचीत से मालूम हुआ कि बाघ ने टिहरी से कुछ दूर एक ही साथ दो गायों का वध किया है।

एक तो दिनभर की थकावट, दूसरे कुसमय और तिस पर कड़ाके का जाड़ा—तबीयत बाहर निकलने को न करती थी; पर उस बूढ़े की आँखों में खिचाव था, जो हृत्तंत्री के तारों को अपनी ओर खींच रहा था। वह खिचाव प्रेम का आकर्षण-सा न था, वरन् कम्पायमान, भावी आशंका से भयभीत बलि पशु की आँखों से निकलती हुई मूक याचना का खिचाव-सा

था। उसकी आँखें कह रही थीं, यदि तुम हृदयहीन नहीं हो, तो हमारी रक्षा करो।

बन-बीहड़-सहचारी-बंदूक उठायी। कारतूस जेब में डाले और लक्ष्मीदत्तजी तथा बूढ़े किसान को साथ लेकर जंगल की ओर चला। चला जाता था और मन-ही-मन सोचता जाता था कि संसार में जीवन-संग्राम समस्या बड़ी विकट है। मनुष्य से लेकर कीड़े-मकोड़े तक उदर-पूर्ति के लिए एक-दूसरे के खून के प्यासे होते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी पशु को मारता है, तो पापी कहाता है; पर जब बाज़ और बाघ, चिड़िया और गाय को मारते हैं, तब हम केवल यह कहकर ही चुप हो जाते हैं कि "जीवो जीवस्य भोजनम्"। कल्पना-शक्ति अपनी उड़ान में हिंसा के मूलतत्त्व के विश्लेषण की ओर उड़ रही थी कि बूढ़े ने कंधे पर हाथ रखकर कहा—"मालिक, ऊपर देखो। ठीक उस डाँड़े पर मेरी बड़ी गाय मरी पड़ी है और वहाँ से चार फर्लांग पर पहाड़ की दूसरी ओर दूसरी गाय पड़ी है।"

बूढ़े की बात सुनकर दार्शनिक विचारों ने अपनी राह ली और बाघ मारने की सूझी। लक्ष्मीदत्तजी और मुझमें चार-पाँच मिनट के लिए परामर्श हुआ। परामर्श क्या था, एक प्रकार की युद्ध-कान्फरेंस-सी थी, जिसमें अपने शत्रु की सब चालों का ख्याल किया गया।

बाघ ने दो गायें मारी थीं। परामर्श से हमलोग इस नतीजे पर नहीं आये थे कि एक ही बाघ ने दो गायों को मारा है। संभव है, मारा हो। पहली गाय को मारने के पश्चात् यदि किसी प्रकार वह वहाँ से भगा दिया गया होगा, तो उसने दूसरी गाय को मार्ग में पाकर, पेट की अग्नि शांत करने के लिए उसको मार डाला हो? और यह भी संभव था कि दूसरी गाय को किसी दूसरे बाघ ने मारा हो। मेरी राय यही थी और लक्ष्मीदत्तजी ने मुझे जनरल मानकर मेरी ही बात ठीक समझी।

दो बाघों की आशंका से हम लोगों ने अपने दल को दो भागों में विभक्त किया। लक्ष्मीदत्तजी तो दूसरी गाय की लाश की ओर चले, जो सामने के डाँड़े पर मरी पड़ी हुई गाय से चार फर्लांग पर गाँव की ओर

थी । मैं डांड़े की ओर चला और यह निश्चय हुआ कि समय अधिक हो जाने पर लाश पर आज बैठना ठीक नहीं, क्योंकि बैठने के लिए स्थान दिन में चार बजे तक बन जाना चाहिए था, जिससे बाघ को किसी बात का शक न हो । स्मरण रहे, बाघ जंगल का कूटनीतिज्ञ चाणक्य है । छोटी-सी हिलती पत्ती से, आसन बदलने से और कोई-कोई तो कहते हैं कि पलक की आवाज तक से अपने शत्रु को समझ लेता है और फिर लाश पर नहीं आता । इसलिए बाघ को मारने के लिए झाड़ी और कांटों से जो स्थान बनाते हैं, वह दिन में चार बजे तक बना लेते हैं और बनाते समय कुछ आदमी इधर-उधर बैठे रहते हैं, जिससे बाघ यह समझे कि किसान घास काट रहे हैं । जब शिकारी छिपकर बैठ जाते हैं, तब और लोग बातें करते चले जाते हैं, जिससे बाघ समझे कि घास काटने वाले चले गये और उसका भोजन बेखटके पड़ा है । ऐसा होने पर भी बाघ एकदम शिकार पर नहीं आता । छिप-छिपकर, रुक-रुककर और चारों ओर देख-देखकर वह एक-एक गज बढ़ता है ।

लक्ष्मीदत्तजी बूढ़े के साथ छोटी गाय की लाश की ओर चले । हम दोनों को गाँव में मिलना था ।

मुझे एक मील के लगभग पहाड़ की चोटी पर पहुँचना था और समय तंग हो रहा था । जंगल में बाघ अपने शिकार पर चार-पाँच बजे ही आ जाता है, इसलिए मैं बड़ा चौकन्ना होकर चल रहा था । पहाड़ की चोटी पर डूबते हुए सूरज की लाल किरणें गजब ढा रही थीं । जीवन ज्योति इसी प्रकार अंतिम प्रकाश करके अनंत में लीन हो जाती है । दार्शनिक विचारों को फिर रोका और जीवन एवं मृत्यु बाघ के शिकार का प्रश्न संमुख आ गया । रात्रि-आगमन के चिह्न चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहे थे । चिड़ियाँ झाड़ियों में चहचहा रही थीं । किसान थके-माँदे घर को लौट रहे थे । मैं चढ़ाई पर एक-एक पैर सँभालकर रख रहा था । कहीं चुपचाप बाघ दिखायी पड़ जाय और बाघ मुझे न देख पाये, तो फिर एक जीवन की बाजी लगाकर फ़ायर कर दिया जाय । बाघ और शिकारी जब घात लगाकर चलते

है, तब उनकी आकृति देखने योग्य होती है। मनुष्य तो मनुष्य की श्रेणी से, सद्भावनाओं और भावुकता के विचार-जगत् से गिरकर पशु ही हो जाता है। स्नायु खींचे हुए, पुट्ठे जकड़े हुए, खूनी आँखें चारों ओर देखती हुई, कान चौकन्ने; संसार की सब बातों, बाल-बच्चों, देश और राजनीति को भूलकर शिकारी एक विचित्र प्राणी हो जाता है। कड़ी चढ़ाई पर मैं इसी दिशा में चला जाता था कि कहीं बाघ के दर्शन हो जायँ तो मनोरथ सिद्ध हो जाय। आधी चढ़ाई चढ़ने के उपरांत मैं एक चट्टान के किनारे रुका और गृद्ध-दृष्टि से चोटी की ओर देखा—एक झाड़ी के आसपास चिड़ियाँ कुछ विचित्र रूप से चिड़चिड़ा रही थीं। उधर जो देखा, तो हृदय की धड़कन एकदम बढ़ गयी। सामने तीन सौ गज पर झाड़ी के सहारे बाघ खड़ा हुआ दिग्दर्शन कर रहा था और चिड़ियाँ अपनी शक्ति भर उस पर विरोध का प्रदर्शन कर रही थीं—मानो टोड़ी बच्चा हाय-हाय की पुकार मचा रही थी। मेरे पास रायफल न थी, बंदूक थी। रायफल न लाने की मूर्खता पर अपने को हजार बार कोसा, क्योंकि बारह नंबर बदूक की मार इतनी दूर नहीं होती।

बाघ थोड़ी देर बाद अपने शिकार की ओर शाही शान से चला। मैंने अपना मार्ग छोड़, कुछ चक्कर काटकर पहाड़ की चोटी पर पहुँचने की ठानी जिससे कि बाघ पर बगल से, छिपकर फायर किया जा सके। बाघ मुझसे तीन सौ गज ऊपर था। वह पहाड़ के ऊपर से ही अपने शिकार की ओर जा रहा था। मैंने आगे बढ़कर उसके रास्ते में जाना चाहा।

दोनों को एक ही स्थान पर पहुँचना था। जिस प्रकार दो गलियों से और भिन्न दिशाओं से कोई चलकर गलियों के चौराहे पर मिलते हैं और जब तक आमने-सामने नहीं आ जाते, तब तक एक-दूसरे को नहीं देख सकते; ठीक उसी प्रकार मैं इस विचार से मोड़ की ओर चला कि कहीं पीछे से पचास-साठ गज पर बाघ दिखायी पड़ा और मौका हुआ तो उसे मारने की चेष्टा करूँगा। यह केवल अंदाज-ही-अंदाज था। यह स्वप्न में भी विचार न था कि अंदाज इतना ठीक निकलेगा। जूते उतारकर मैं ऊपर

को लपका। जूते इसलिए उतार दिये कि तनिक भी आहट न हो। जब पहाड़ की चोटी का मोड़ पचास-साठ गज रह गया, मैं धीरे-धीरे एक-एक पैर गिनकर बंदूक को बगल में दवाये और हाथ बंदूक के घोड़े पर रखे हुए आगे बढ़ा। खयाल था कि इतनी देर में बाघ मोड़ को पार कर गया होगा और मैं मोड़ पर पहुँचकर, उसके मार्ग को काटकर, छिपकर बैठ जाऊँगा; पर ज्योंही मैं मोड़ पर शिकारी आसन से पहुँचा, त्योंही दूसरी ओर से बाघ आ गया। मैंने पहले बाघ को देखा। जंगल में स्वतंत्र रूप से, अभिमान के साथ, मस्त चाल से चलते हुए मैंने बाघ को इतने समीप से पहले कभी न देखा था। झुकी हुई अधखुली आँखें, श्वेत दाँतों से कुछ बाहर निकली हुई लाल जीभ और गज़ब के पुट्ठे, ऐसे पुट्ठे प्रत्येक युवक के होने चाहिए— साक्षात् यमराज की मूर्ति मेरे सामने आ गई। हृदय की धड़कन तो कुछ सेकेण्डों के लिए न मालूम कितनी तीव्र हो गई। बाघ से मुझे सहसा भय नहीं लगता; पर इस आकस्मिक स्वागत के लिए मैं तैयार न था। पीछे हटने का समय न था। ऐसे अवसरों पर मनुष्य बुद्धि से काम नहीं ले सकता। ऐसे अवसर उसे बुद्धिहीन कर देते हैं। सोचने का समय तो घर और सभा-समितियों में ही हुआ करता है। ऐसे मौके पर मनुष्य की सहायक पशुबुद्धि (Instinot) ही होती है और प्रेरक कोई विशेष शक्ति। ज्योंही बाघ की दृष्टि मुझ पर पड़ी, त्योंही वह गरजकर पिछले पाँव ख ा हो गया। अगले पंजों के नाखून निकालकर, पूंछ को इस प्रकार हिलाता हुआ जिस प्रकार बिल्ली चिड़िया की घात में बैठी हुई अपनी पूँछ हिलाती रहती है, बाघ मेरे सामने मुँह फाड़कर खड़ा हो गया। वह मेरे इतने समीप था कि मैं बंदूक की नाल से उसे छू सकता था। पहले तो मैं काँपा, और यह मालूम होता था कि हृदय नीचे पैरों की ओर भीतर ही-भीतर सरक रहा है। इसका कारण आकस्मिक मुठभेड़ थी। बाद को निराशाजन्य साहस अथवा उद्वेग ने मुझे मृत्यु का सामना करने योग्य ऐसे बना दिया, जैसे हरिण अपने बचाव का कोई उपाय न पाकर, दौड़ना छोड़कर, मारने पर उतारू हो जाता है। मैंने समझ लिया कि मैं फायर करूँ अथवा

न करूँ—बाघ मुझे मार ही देगा, और मेरे मरने की खबर स्त्री, बच्चों, घरवालों और इष्ट-मित्रों को मेरे शरीर की बची-खुची हड्डियाँ और मूक बंदूक देगी, और इस जीवन का अंत—जिसका आदर्श निरीह किसानों की सेवा करना बना रखा था इस प्रकार अकेले पहाड़ और पत्थरों में, जो हजारों वर्ष से ऐसे ही कांड देखते हुए हृदयहीन हो गये हैं; होगा।

उधर बाघ ने भी समझा कि यह दो पैर का प्राणी काली-काली लोहे की वस्तु लिए उसकी जान की खातिर आया है; उसके खून का प्यासा है। उसके मुँह से ग्रास छीने तो छीने; पर उसकी जान का यह ग्राहक—दो पैरों का जीव—इस प्रकार अपमान करके उसे मारने आया है! यह नहीं हो सकता। इस अपमान और धृष्टता का एक ही उत्तर था, और वह यह कि वह अपने शत्रु की सत्ता ही मिटा दे।

इधर मैंने ख्याल किया कि यदि फ़ायर किया, तो बाघ गिरते हुए भी एक चोट करेगा, और यदि वह मेरे खून को न भी पी सकेगा, तो नीचे खड्ड में तो गिरा ही देगा। खड्ड में एक मील नीचे गिरने पर मेरे अंत का पता भी कोई न देगा, इसलिए घोड़ा चढ़ाये खड़ा था कि पहले मैं आक्रमण न करूँगा। यदि बाघ मुझ पर झपटा, फ़ायर करूँगा, और आत्मरक्षा के लिए जो कुछ बन पड़ेगा, करूँगा। बंदीगृह में जब दारा का सिर काटने के लिए औरंगजेब के भेजे हुए आदमी आये, तो दारा के पास शाक काटने का चाकू था। दारा उसी से लड़ा। तलवार के सामने उसकी कुछ न चली, पर दारा वीर की भाँति लड़ता ही रहा। प्रत्येक व्यक्ति का यही कर्तव्य होना चाहिए। इस कर्म-विपाक-विमर्श के लिए न तो समय ही था और न उस समय दिमाग ही। इस घटना को लिखने और पढ़ने में देर लगती है; पर ये सब बातें एक मिनट में हुईं। कम ही समय लगा होगा अधिक नहीं।

एक मिनट तक हम दोनों डटे रहे। बाघ गुर्रा रहा था। उसकी आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। मैंने न फ़ायर किया और न उसने आक्रमण! यह एक मिनट युग के समान था। अंत में बाघ एकदम मुड़कर

भागा ज्योंही वह मुड़ा, मैंने समझा कि बस, मेरे ऊपर आया। बंदूक दाग ही तो दी। जंगल गूँज गया। गोली बाघ के पेट में लगी। मैंने बाघ को गिरते देखा। बंदूक छोड़ मैं नीचे को दौड़ा; पर गिरकर लुढ़कने लगा। जिस बात का डर था, वही हुआ। खड्ड की ओर मैं फुटबाल की भाँति ढरकने लगा। चालीस-पचास गज लुढ़का हूँगा कि हृदय दहलाने वाला बाघ का गर्जन कान पर मालूम हुआ।

मौत के अनेक बहाने होते हैं और जीवन-रक्षा के अनेक सहारे। यदि जीवन होता है, तो मनुष्य पहाड़ की चोटी से गिरकर बच जाता है और मरने के लिए सीढ़ियों से गिरना ही काफ़ी है। मुझे बचना था। भगवान् को यही मंजूर था कि मैं बचा रहूँ। सामने खड्ड की ओर तेजी के साथ लुढ़कने के मार्ग में एक चीड़ का वृक्ष था। इतना होश-हवास तो था ही। आठ-दस गज ऊपर से पेड़ देख लिया। उसी ओर को जाने के लिए हाथ-पैर पीटे और उस पेड़ से आकर टकराया। पीछे से बाघ के घिसटने की सरसराहट हो रही थी। पेड़ से ठोकर खाकर रुका, झटपट ऊपर चढ़ा। इतने में ही विद्युत गति से बाघ भी आ गया और उचककर मुझ पर पंजा मारा। उसके पंजे में मेरा निकर आया। निकर फट गया, और मैं ऊपर निकल गया। बाघ की कमर टूट गयी थी, इसीलिए वह पेड़ पर न चढ़ सका। पेड़ पर ऊपर बैठकर मैंने दम लिया और तब चोट और खून की ओर ध्यान गया। पेड़ के नीचे बाघ पड़ा हुआ अंतिम श्वास ले रहा था। मेरे मन में विचारों का सागर उमड़ पड़ा; पर उनके लिखने की आवश्यकता नहीं। रात्रि के नौ बजे तक जाड़े में उस पेड़ पर टँगा रहा। लक्ष्मीदत्तजी ने आठ बजे तक प्रतीक्षा की, और वह भी इसलिए कि शिकारी और भिखारी का कुछ ठिकाना नहीं कि कहाँ जा निकले। छै बजे नहीं, तो सात बजे तक मुझे पहुँचना चाहिए था, इसलिए चिन्तित होकर लालटेन और दो आदमियों को लेकर वे मेरी खोज में निकले और नौ बजे मुझे पेड़ पर टँगा और बाघ को नीचे मरा हुआ पाया। बड़ी कठिनता से उतारा। बंदूक की तलाश प्रातःकाल पर छोड़ी गई। उस बूढ़े ने बाघ को न मालूम